

ISSN 2350-1065 MUKTANCHAL

वर्ष : 06, अंक : 22, अप्रैल-जून 2019

शोध, समीक्षण, सृजन एवं संचार का

# मुक्ताचल

नामवर सिंह की स्मृति में  
आलोचना केन्द्रित अंक

मूल्य : 50 रुपये



विद्यार्थी मंच

उस पार से...



## नामवर सिंह

(28 जुलाई 1926 - 19 फरवरी 2019)

यदि हिन्दी में आज जीवंत साहित्य है तो निश्चित ही उसके समानान्तर जीवंत साहित्य-बोध भी है—चाहे इस साहित्य-बोध से युक्त शिक्षित समुदाय जितना छोटा हो और इस प्रबुद्ध समुदाय के बीच आज का साहित्य ही नहीं, बल्कि अतीत के उन साहित्यकारों की भी कृतियाँ जीवित हैं, जिन्हें वह आज भी प्रासंगिक समझता है। कहना न होगा कि आज साहित्यिक प्रतिमान का संरक्षक समझता है। कहना न होगा कि आज साहित्यिक प्रतिमान का संरक्षक यही समुदाय है, जिसमें परम्परा का जीवित बोध है, जिसमें अतीत की जीवंत स्मृति के साथ ही परिवर्तनशील वर्तमान के प्रति सतत जागरूकता भी है। आज आलोचना का कार्य इसी 'संश्लिष्ट समसामयिक बोध' को परिभाषित और संगठित करना है, स्वयं अधिक से अधिक लोगों को इस आत्मबोध के प्रति सतर्क करते हुए उसके निर्माण में सहायता देना है। आलोचना का ठोस, मूर्तिमान एवं व्यावहारिक प्रतिमान यही है—एक प्रकार से यही साहित्य का प्रतिमान भी है और साहित्य का इतिहास भी। इससे भिन्न प्रतिमान के नाम पर जो सिद्धान्त पेश किये जाते हैं, वे निर्जीव रुढ़ि हैं और इससे भिन्न जो इतिहास लिखा जाता है, वह सूची पत्र है।'

—इतिहास और आलोचना से (1962)

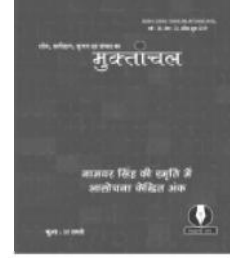


शोध. समीक्षण. सजन एवं संचार का

# मुक्तांचल

त्रैमासिक

वर्ष-6. अंक-22. अप्रैल-जन 2019



आवरण : डिजाईन बॉक्स के सौजन्य से

संपादक	:	डॉ. मीरा सिन्हा
अतिथि संपादक	:	हरेराम पाठक
प्रकाशक	:	आनंद कुमार सिन्हा
कला सम्पादक	:	शभागता श्रीवास्तव

## समस्त पद अवैतनिक

### व्यवस्थापन एवं प्रबन्धन :

हेमंत सिंह, परमजीत कुमार पंडित, नगीना लाल दास, विनीता लाल, सुशील कुमार पाण्डे, डॉ. विजया शर्मा, विनोद यादव, पार्वती कमारी साव, अजय कुमार ठाकर।

### परामर्श एवं विशेष सहयोग :

प्रो. शशि मदीराज : प्राकृतन अध्यक्ष, हिन्दी विभाग. सेन्टल यनिवर्सिटी. हैदराबाद

प्रो. अरुण होता : अध्यक्ष, हिन्दी विभाग. स्टेट यनिवर्सिटी. बारासात

प्रो. मनीषा झा : उत्तर बंग विश्वविद्यालय. दार्जिलिंग

प्रो. मक्तेश्वर नाथ तिवारी : विश्व भारती. शांतिनिकेतन

डॉ. पंकज साहा : खडगपर कॉलेज. पश्चिम बंगाल

डॉ. शम्भा उपाध्याय : खदीराम बोस कॉलेज. कोलकाता

निशांत : काजी नजरूल विश्वविद्यालय. आसनसोल

सलेखा कमारी : विद्यासागर कॉलेज. कोलकाता

पत्रिका में व्यक्त विचारों में संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं 'मुक्तांचल' से संबंधित सारे विवादों के लिए न्याय-क्षेत्र कलकत्ता उच्च न्यायालय होगा।

नामवर सिंह की स्मृति में आलोचना केन्द्रित अंक

### संपादकीय कार्यालय :

आधुनिक अपार्टमेंट, 6/2/1 आशुतोष मुखर्जी लेन  
सलकिया. हावडा-711 106. पश्चिम बंगाल

संपर्क : 0332675 1686. 098314 97320

ई-मेल : muktanchalquarterly2014@gmail.com

sinhameera48@gmail.com

लेखकों से अनुरोध किया जाता है कि मक्तांचल में प्रकाशन के लिए सामग्री यनिकोड वर्ड (Unicode Word) में भेजें।

मक्तांचल : A/C-50200014076551

HDFC BANK, BURRABAZAR,  
KOLKATA-700007

IFSC CODE :-HDFC0000219

मद्रक : शिक्षण. 50. सीताराम घोष स्ट्रीट. कोलकाता-700009

पत्रिका का मूल्य

एक अंक-50 रुपये

सदस्यता शुल्क

वार्षिक-200 रुपये. आजीवन-2000 रुपये

संस्थाओं के लिए

वार्षिक-250 रुपये. आजीवन-2500 रुपये

डाकखर्च (प्रत्येक अंक के लिए) अतिरिक्त 30 रुपये देय होगा।

‘केन्द्रीय हिंदी संस्थान. आगरा से सहयोग प्राप्त

मुक्तांचल अप्रैल-जन 2019

## अवस्थिति

<b>शोध</b>	<b>संस्तुति</b>	
	<b>आलेख</b>	
	08 हरeram पाठक	: हिन्दी आलोचना : परंपरा, संस्कृति और विकृति
	15 श्रीनारायण पाण्डेय	: नामवर सिंह और छायावाद
	22 विमल वर्मा	: ताक रहा है भीष्म स्वर्णों की कठिन सेज पर
<b>समीक्षा</b>	29 पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांश'	: पिक-प्रतिभा का स्वाभिमान नामवर सिंह
	40 शशिभूषण द्विवेदी	: आलोचक नामवर सिंह : आलोचना करने और सहने का उदार-बोध
	<b>अनु गिलन</b>	
	43 राणा प्रताप	: कहानी : नयी कहानी
	46 विनोद शाही	: कि नव और उत्तर मार्क्सवाद में भी तीसरी दुनिया अभी तक हाशिये पर है
	52 पनम सिन्हा	: डॉ. गोपाल राय का आलोचना-कर्म एवं साहित्येहास लेखन
<b>सृजन</b>	<b>विमर्श</b>	
	56 सेवाराम त्रिपाठी	: क्या आलोचना के लिए भी कोई जगह है
	64 पी. एन. सिंह	: विमर्श-केन्द्रित साहित्य और हिन्दी आलोचना
	<b>गवेषणा</b>	
	69 सम्राट सधा	: हिन्दी साहित्य का तकनीकी प्रयोगवादी यग
	<b>समय की िला पर</b>	
<b>संचार</b>	72 अरुण शीतांश	: मेरी कविताएं अछूत विषयों पर केन्द्रित हैं!
	<b>कविता</b>	
	76 सनील कुमार द्विवेदी	: कुछ भी चौकाता नहीं लोगो को. चोर. शहर से परिंदे गायब है
	78 जितेन्द्र धीर	: बैलून लिए दौड़ता बच्चा. बीसवीं सदी के अंत में. जीवन के दस्तावेज पर



शोध	80 रजनी अनुरागी	: हमारी कविता, स्त्री : एक, स्त्री : दो
	82 मुकेश मानस	: तुम्हें विदा करने से पहले. विदा इन दिनों
	84 अनवर शमीम	: बेटी का घर, डर
	86 चन्द्रशेखर सिंह	: उसे देखा था. बढा. कोयला तोडती. पत्थरों की बारिश
समीक्षा	<b>कहानी</b>	
	88 सुरेश कांटक	: धंधा
	92 सषमा कनप्रिया	: मनीषा शक्ला लापता है
	<b>लघुकथा</b>	
लघु	94 मार्टिन जॉन	: गुजरती बहार के फल. नजरिया. मखौटेवाले. रोता बचपन. वापसी डर
	<b>डायरी अं 1</b>	
	97 जयप्रकाश मानस	: बस्स. दो-चार दिन जरूर गाँव रह आइये
	<b>यात्रा-वतांत</b>	
रचना संदर्भ	101 विनोद साव	: कला की फहार
	<b>रचना संदर्भ</b>	
	106 मिथिलेश्वर	: किसान मन का दर्द : रचना प्रक्रिया के क्षण
	110 अमित कुमार	: चौतरफे संकटों से जझते किसानों की संघर्ष गाथा
जगन	<b>गोधार्थी की कलम से</b>	
	113 सीमा चौधरी	: यथार्थ के धरातल पर खडी कहानियाँ (अखिलेश का कथा संसार)
	121 विकास साव	: उत्तर-आधुनिक प्रवृत्तियाँ एवं उदय प्रकाश का साहित्य
	<b>गतिविधियाँ</b>	
संवा	128 कष्णा कुमार	: केंद्रीय हिन्दी संस्थान आगरा का विदेशी छात्रों का दीक्षांत समारोह संपन्न
	128 आनंद गुप्ता	: नीलाम्बर द्वारा रायपुर में आयोजित 'रंगविनोद' कार्यक्रम
	129 विनीता सिंह	: मुक्तांचल-21 स्त्री कलम प्रतिरोध की संस्कृति
	129 सशील पाण्डेय	: श्रद्धांजली सभा : रमणिका गुप्ता (22 अप्रैल 1929-26 मार्च 2019)

## संस्तति

नामवर सिंह हिन्दी आलोचना संसार के प्रमुख स्तम्भ रहे हैं। इस स्तम्भ की ईंटें अध्यापन से तैयार हुईं और बुनियाद में एक शोधक विद्यार्थी खपता रहा। वस्तुतः, एक अच्छा अध्यापक ही श्रेष्ठ आलोचक भी हो सकता है और अच्छे अध्यापक के पीछे एक शोधक विद्यार्थी का पठन-पाठन और मनन-चिंतन समन्वित रहता है। नामवर सिंह के समन्वय दृष्टि ने आलोचना के क्षेत्र में जिस पुख्ता जमीन को तैयार किया वह बेमिसाल है। बेमिसाल इसलिए कि आज के दौर में उनके बाद परवर्ती मूल्यांकन एवं समीक्षण की परंपरा इतनी दिग्भ्रमित है कि कहीं कोई सितारा नजर नहीं आता। आचार्य शुक्ल एवं डॉ. रामविलास शर्मा जैसे दो बड़ी हस्तियों द्वारा उठाये गये कुछ आरोपों एवं प्रत्यारोपों को नामवर जी ने बड़े आत्मीय तरीके से सुलझाने की कोशिश की, चाहे वह 'छायावाद' का प्रसंग हो अथवा 'मुक्तिबोध' का संदर्भ। उन्होंने रचना एवं रचनाकार के युग संदर्भ को खंगाला और इतिहास बनते समय से कृति और प्रवृत्ति को अलग कर प्रस्थापन की कोशिश कभी नहीं की। वे एक संवेदनशील आलोचक थे क्योंकि उनके मूल में एक लगनशील विद्यार्थी और जागरूक अध्यापक सदा जीवित रहा। अपने बाद भी वे हम साहित्य सेवियों के लिए ऐसा आलोक छोड़ गये हैं जिसे ज्योतिषित रखना बहुत जरूरी है।

नये की तलाश अनवरत जारी रहेगी आज आलोचना के क्षेत्र में विखंडन की प्रवृत्ति ने अपना मुकाम बना लिया है। किसी समय प्रगतिशील धारा ने विरोध का जो वामपक्ष तैयार किया था उसके निषेध ने अपना खाता खोल लिया और 'विरोध' के अन्धानुकरण ने बाजार चलाने की धुन में अराजक स्थापनाओं को जन्म दिया है जिसमें विचार एवं संवेदना का नितांत अभाव नजर आता है। पुनर्पाठ के नाम स्थापित कृतियों को लेखक के समय संदर्भ से काटकर वर्तमान समय की बात पर तौलना और फिर स्वयं को तिस्मार खा साबित करने का दौड़ चल पड़ा है जो आगंभीर है और हस्यास्पद भी, संपादक होने के नाते ऐसे कई लेखन मेरे सामने से गुजरते हैं और मैं हतप्रभ रह जाती हूँ। आलोचना केन्द्रित इसी अंक के लिए 'कफन' कहानी का एक पुनःपाठ मेरे पास आया जिसे घीसू और माधव जैसे मक्कार पात्रों के सृजन के लिए प्रेमचंद को बहुतेरा कोसा गया था और उनके लिए सुझाव भी जारी किया गया था कि वे घीसू और माधव की जगह नरेन्द्र मोदी और बी. आर. अम्बेडकर जैसे पात्रों का निर्माण कर सकते थे जिन्होंने गरीबी से जूझते हुए भी अपने उच्च मनोबल और कठिन संघर्ष के कारण समाज में गरिमा हासिल की है। इस तरह का कुपाठ रचनाकार के विज्ञान के साथ खिलवाड़ करना है। प्रेमचंद के समय का औपनिवेशिक ग्रामीण समाज, जिसमें



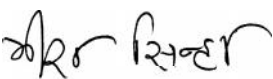
जमीनदारी व्यवस्था में भूमिहीन खेतिहर मजदूर की विडंबनात्मक स्थिति के बाद जहां दिनभर हार तोड़ मेहनत के बावजूद पेट भर भोजन नसीब नहीं होता वहां बुद्धिया की मौत ही उनके लिए सामयिक 'रेस्क्यू' की तरह जब वे मृत बुद्धिया के कफन के पैसे से पेटभर खाने के बाद बचे हुए खाने का दान कर मरी हुई मानवता की जगह दानवीरता के गौरव को प्राप्त कर सकते थे प्रेमचन्द ने इसी संवेदना को उठाने की कोशिश की है लेकिन आप अलोचक महोदय अपना पैमाना लिए पहुँचे और रचनाकार के रचना रम को समझे बगैर सब कुछ ध्वस्त करते हुए दमदार आलोचक का खिताब हासिल कर लिया। यह सब एक तरह का बाहुबलि तरीका साहित्यालोचन में आम होता जा रहा है, जिससे मेरा प्रबल विरोध है। आलोचक बन खड़े हो जाने का शौक रखने वाले कुछ नये अध्यापक कतिपय समसामयिक घटनाओं, परिघटनाओं से उत्पन्न जुमलों को लिखकर साहित्य संसार की प्रतिष्ठित कृतियों को तहस-नहस करने का मन बना लेते हैं। ऐसे ही एक ने कहा प्रसाद की 'पुरस्कार' कहानी में भूमि अधिग्रहण का मसला है। इस कहानी की आलोचना इसी परिप्रेक्ष में होनी चाहिए मैं इसका पुनर्पाठ लिखूँगा। मझे लगा तब तो फिर प्रसाद का मातृभूमि के लिए व्यक्तिगत प्रेम के उत्सर्ग का मल्यबोध कहाँ रहा-सब ध्वस्त!!

साहित्यिक गोष्ठियों में एक ही तरह की विचार दृष्टि से आवेष्टित चिंतक अगर मिले तो कुशल अन्यथा भारी हंगामा और नौबत जूता-चप्पल तक। प्रेमचन्द जयंती पर विचार गोष्ठि में जुटे और उलझ गये-प्रेमचन्द के साहित्य में 'राष्ट्रवाद' है 'विचारधारा' नहीं है समझ में आया कि 'विचारधारा' शब्द को मार्क्स की सामाजिक विचार दृष्टि के साथ रूढ़ कर दिया गया है और 'राष्ट्र' शब्द प्रयोग होते ही फ़ासिज्म का आतंक हावी हो जाता है। प्रेमचन्द कहीं के कहीं रह गये हम 'हैल्यूशिनेशन' के शिकार एक दूसरे के हमले सम्भालते अलग हो गये। हवाई किलों पर हवाई लड़ाइयाँ चलती रहती है-हम अपने-अपने तीर-तरकश लिये विपल साहित्य से विलग अजीबियत का त्योंहार मनाते रहते हैं।

साहित्य में आलोचना का सही अर्थ निंदा करना नहीं होता बल्कि उन रेशों को ढूँढ़ निकालना होता है जिसमें रचनाकार के मूल्य बसे होते हैं। रामविलास शर्मा ने जहाँ मुक्तिबोध के 'अंधेरे में' को विशिष्ट का प्रलाप कहकर खारिज कर दिया वहीं नामवर सिंह ने 'अंधेरे में' कविता को अस्मिता की तलाश बताया और शर्मा जी से बौखलाये पाठक नामवर जी के मुरीद हुये।

आज का माहौल कुछ ऐसा है जहां विरोध के लिए विरोध करना प्रचलन बन गया है। संचार की भाषा तीव्र, तीक्ष्ण और हमलावर होती जा रही है—'निशाना साधना' और 'पलटवार' जैसे शब्द उत्तेजित करते हैं-तेजाब सी उत्तेजना हर जगह क्षार छोड़ रही है। कहाँ तो जमीन दुरुस्त करने की बात थी लेकिन आसमान पर चँदोवे टाँकने लग गये। समय दरक रहा है और दिवारें खामोश खड़ी हैं। सब कुछ एक लंबी कविता है या कथावृत्त...? उसे जाँचने परखने और अमल करने की जरूरत है सिर्फ विरोध का विरोध एक बड़ा सिर्फ तैयार करता है जिससे घिरे हम किसी अंजान जंगल में पड़े रह जाते हैं।

अंत में अंक के अतिथि संपादक डॉ. हरेराम पाठक की हृदय से सराहना करती हूँ जिनके अथक प्रयास से आलोचना केन्द्रित इस अंक का संयोजन करना संभव हुआ।

  
संपादक

## हिन्दी आलोचना : परंपरा, संस्कृति और विकृति

हरeram पाठक

हिन्दी आलोचना एवं उसकी परंपरा को लेकर जब कोई बात चलती है तो सीधे हम भारतीय काव्यशास्त्र एवं पाश्चात्य यूनानी काव्यशास्त्रियों की शरण में चले जाते हैं। पर जहाँ तक मैं समझता हूँ भारतीय काव्यशास्त्र हिन्दी आलोचना का उद्गम-स्थल नहीं है। भारतीय काव्यशास्त्र के विभिन्न समप्रदायों एवं उनमें निहित दार्शनिक चिंतन के साथ साहित्यालोचन की शुरुआत मानकर हमने भाषा की बहुविध आलोचनात्मक अवधारणाओं को अनदेखा कर दिया जिसके परिणामस्वरूप भाषा के दार्शनिक एवं आलोचनात्मक पक्ष पर वैदिक एवं उत्तर वैदिक काल में जितना चिंतन हो सका, उसके आगे नहीं बढ़ सका। विभेद वहाँ खड़ा हुआ जब भाषा विज्ञान को साहित्यिक आलोचना की परंपरा से बिल्कुल काटकर अलग कर दिया गया। इससे भी बड़ी बात यह हुई कि भाषा विज्ञान के नाम पर जो कार्य हुए वे यास्क के निरुक्त और व्युत्पत्ति शास्त्र से आगे नहीं बढ़ पाए।

भाषा का संतुलित एवं सम्यक प्रयोग ही साहित्य है। एक ऐसा प्रयोग है जिसमें पूर्ण संवेदना के साथ भाव सौन्दर्य का निरूपण होता है। साहित्य साधक वही है, जो वाणी का साधक है। व्यापक समाज के हितार्थ वाणी के प्रयोग पर वेदों, उपनिषदों में व्यापक चर्चा की गयी है। उत्तम वाणी के प्रयोग पर बल दिया गया है। वैदिक वाङ्मय में कहा गया है कि 'वाणी' का वास्तविक अर्थ जो समझता है, वह इस संसार में सर्वश्रेष्ठ है, परन्तु वाणी का वास्तविक अर्थ समझे बिना जो इसका प्रयोग करता है वह बंध्या गौ के समान है। आज निरंतर असंयमित होती जा रही 'वाणी' साहित्य की मुख्य समस्या बनी हुई है। इसी वाणी को समाजोपयोगी बनाने के लिए वेदों की ऋचाओं में बार-बार चर्चा की गई है। भाषा(वाक्) सदैव समाज सापेक्ष होती है। उससे व्यक्ति की आत्मशक्ति दृढ़ होती है, विश्वास, धैर्य, क्षमा आदि मानवीय गुण विकसित होते हैं, चारित्रिक गठन होता है। एवं स्वस्थ समाज का निर्माण होता है। ऋग्वेद की निम्नलिखित ऋचा में वाक् को संपूर्ण जगत् की धात्री, धन प्राप्त करनेवाली, अनसंधाती, ज्ञान से संपन्न तथा अनेकत्र अवस्थित कहा गया है—

अहं राष्ट्री सगमनी वसूना चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।

तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यविशयंतीम्॥

भाषा की शुद्धता एवं उसके सम्यक प्रयोग साहित्य के लिये तो आवश्यक है ही, आलोचना के लिए उससे भी अधिक महत्व का है। वेदान्त काल में भाषा की शुद्धता पर महत्त्व देने का अर्थ केवल भाषा-ज्ञान कराना मात्र नहीं, बल्कि शुद्ध भाषा के द्वारा शुद्ध आचरण की तलाश करना था। एक ऐसा आचरण निर्मित करना है जो सम्यक ज्ञान-चक्षुओं से पूर्ण हो। जिसमें



नीर-क्षीर विवेकी लोचनों का विकास हो।  
तैत्तिरीयापनिषद के द्वितीय अनुवाक में कहा गया है—

शीक्षा व्याख्यास्यामः। वर्णः स्वरः। मात्रा बलम्।  
साम संतानः। इत्युक्तः शीक्षाध्यायः

वाग्भट ने गुण और अलंकार के पूर्व दोष निरूपण करते हुए दोष परिहार को आवश्यक माना है (वाग्भटालंकार 2.5); भामह ने दोष युक्त काव्य को कुपुत्र के समान निंदा का कारण कहा है। (काव्यालंकार, 1.11); दंडी ने छोटे दोष को भी कुष्ठ रोग के दाग के समान कहा है (काव्यादर्श, 1.6); वामन के अनुसार दोष काव्य सौंदर्य के विघातक हैं (काव्यालंकार सूत्र, 2.1.1)।

तात्पर्य यह है कि भाषा दोष अथवा काव्यदोष सर्वथा निंदनीय है। किसी शब्द का गलत प्रयोग केवल तत्काल ही कुप्रभाव नहीं छोड़ता बल्कि पीढ़ी-दर-पीढ़ी उसका नकारात्मक प्रभाव बहुत घातक होता चला जाता है। यही कारण है कि भारतीय मनीषा ने भाषा-चिंतन पर भरपूर समय दिया। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि आलोचक के लिए भाषा का संस्कार आरंभिक संस्कार है। दूसरे शब्दों में यह आलोचक का गर्भाधान संस्कार है। यह संस्कार इतना प्रबल है कि पश्चिम के विद्वान भी भारतीय भाषा विज्ञान को आश्चर्य भरी दृष्टि से देखते हैं। इसका मुख्य कारण यह भी है कि महर्षि पाणिनी और पतंजलि भाषा विकास के काल्पनिक पचड़ों में नहीं पड़ते, बल्कि समकालिक वैज्ञानिक वस्तुपरकता से भाषा की संरचना का विश्लेषण करके उसे नियमबद्ध करते हैं।

शब्द और अर्थ के संबंध में भारतीय काव्य शास्त्र में दो सिद्धांत हैं—मीमांसक और न्याय। मीमांसकों का कहना है कि 'शब्द' का 'अर्थ' संबंध नैसर्गिक है, जबकि नैयायिकों का कहना है कि शब्द एवं अर्थ का संबंध नैसर्गिक नहीं पारंपरिक है। ध्यान से देखा जाय तो नैयायिकों का दृष्टिकोण वही है जो आधुनिक भाषाशास्त्री सास्युर का है। आज देरिदा के भाषायी विखंडनवाद को हम जितना भी व्यर्थ साबित करने का

प्रयास करें इस बात को हमें स्वीकार करना ही पड़ेगा कि उपस्थिति अर्थ के साथ अप्रत्यक्ष अर्थ की प्रक्रिया हमेशा चलती रहती है। देरिदा के शब्दों में 'अर्थ के विस्थापन हेतु अनर्थ' हर समय व्यग्र रहता है।" कहने का तात्पर्य यह है कि बौद्ध दार्शनिकों द्वारा प्रस्तुत शब्द-अर्थ विषयक अवधारणा से उत्तर-आधुनिक दार्शनिक साँस्यूर एवं देरिदा को बहुत दूर तक प्रभावित किया जो उत्तर आधुनिक भाषा-चिंतन एवं आधुनिक साहित्यालोचन के मुख्य आधार हैं।

अब प्रश्न उठता है कि बौद्ध दर्शन के शब्दार्थ विषयक चिंतन को आधार बनाकर पश्चिमी देशों में साहित्यालोचन के नये सिद्धांत यदि निर्मित होते हैं तो वही सिद्धांत हमारे यहाँ निर्मित क्यों नहीं होते? वैदिक, औपनिषदिक एवं उत्तर औपनिषदिक काल में भाषा-दर्शन संबंधी जितने चिंतन हुए उसके स्त्रोत भरत मुनि, भामहक; उदभट, रुद्रट, कुंत, आनंदवर्द्धन आदि विद्वानों तक विभिन्न सम्प्रदाय रूपों में व्याख्यायित हुए हैं। पर उसके बाद उसपर चिंतन की दिशाएं बंद हो जाती हैं। शब्द-अर्थ विषयक बौद्ध-दर्शन की व्याख्याएँ तो नागार्जुन, धर्मकीर्ति और दिङ्नाद तक ही सिमट कर रह जाती हैं। हमारे यहाँ भाषा की संरचनात्मक आलोचना का विकास न हो सकने का कारण एक तो यह रहा कि हमारे बड़े से बड़े आलोचक की संस्कृत भाषा-ज्ञान से अपरिचित दूसरे; जिन लोगों ने संस्कृत का ज्ञान अर्जित किया वे पंडिताऊ प्रवृत्ति का होकर या तो प्रवचनकर्ता बन गये या संस्कृत का प्राध्यापक होकर रह गये। भाषा संबंधी अनुसंधान की जिज्ञासा समाप्त हो गयी। हाँ, अंग्रेजी पढ़े लिखे लोगों ने पश्चिमी भाषा एवं शैली विज्ञान का अनुकरण करना अवश्य शुरू कर दिया। इससे लाभ यह हुआ कि पश्चिमी भाषा विज्ञान का हमें ज्ञान तो हुआ पर हमारी परंपरागत भाषा-विज्ञान, जिसमें चिंतन एवं शोध की बहुविध शाखाएँ थीं, उसका अग्रिम विकास सदा सर्वदा के लिए अवरुद्ध हो गया।

आज आवश्यकता इस बात की है कि वेद, उपनिषद, भर्तृहरि, पतंजलि एवं बौद्ध भाषा-चिंतन के विभिन्न सूत्रों को नये संदर्भ में व्याख्यायित किया जाय और शास्त्रीय आलोचना के इस निरंतर कमजोर होते जा रहे पहलुओं को मजबूती प्रदान की जाय। भाषा चिंतन के इस घोर अंधकार में विनोद शाही रचित 'हिन्दी आलोचना की सैद्धांतिकी' पुस्तक उम्मीद की एक नई किरण जगाती है। शाही जी अपनी आलोचना की सैद्धांतिकी निर्मित करने के लिए भाषा संबंधी गहन चिंतन को प्रश्रय देते हैं। वे केवल भाषा की ही समकालीनता की चर्चा नहीं करते बल्कि विभिन्न रसों के अर्थ और उपयोगिता की तलाश समकालीन संदर्भों में करके हमें पुनर्चिंतन के लिए आमंत्रित करते हैं। उनकी पूरी पुस्तक भाषा एवं काव्यशास्त्र के पारंपरिक संदर्भ को नए संदर्भों में व्याख्या करती है।

डॉ. शशिभूषण 'शीतांशु' ने शैली विज्ञान के अंतर्गत भारतीय काव्यशास्त्र में प्रचलित विभिन्न सम्प्रदायों का गहन अध्ययन प्रस्तुत कर प्राचीन भारतीय भाषा शास्त्र एवं काव्यशास्त्र का अद्यतन संदर्भों में विवेचन विश्लेषण किया है। डॉ. शीतांशु लिखते हैं— "जिस प्रकार शैली विज्ञान पाठ पर विचार करने के लिए भाषा के शब्द, रूप, वाक्य, प्रोक्ति अर्थ जैसे विभिन्न स्तरों पर विचार करता है उसी प्रकार औचित्य सिद्धांत में भी पाठ की साभिप्रायता का निरूपण करने हेतु भाषा के पद, वाक्य, प्रबंधार्थ, क्रिया, कारक, लिंग, वचन, विशेषण, उपसर्ग और निपात जैसे तात्त्विक भाषायी स्तर मिल जाते हैं।" अद्यतन युग में साहित्यालोचन की परंपरागत भाषा सूत्रों एवं काव्य संदर्भों का अनुशीलन डॉ. शीतांशु सर्जनात्मक एवं शैली वैज्ञानिक संदर्भों में करते हैं, वहीं विनोद शाही इसे दार्शनिक आधार प्रदान कर एक नतन समाज दर्शन प्रस्तुत करते हैं। अस्तु,

संस्कृत ग्रंथों से चलकर साहित्यालोचन की परंपरा सीधे हिन्दी के रीतिकाल में पहुंच जाती है। आलोचना

की इस परंपरा के निर्वहन में रीतिकाल की महत्वपूर्ण भूमिका कही जा सकती है। पर सबसे दुखद बात यह है कि रीतिकालीन आचार्यों की पद्यबद्ध आलोचनाएँ पुस्तकों में बंद होकर रहने के लिए अभिशप्त हो गयीं। उसके अध्ययन की अधिक उपयोगिता नहीं समझी गयी। इसका एक कारण उनका पद्यबद्ध होना भी था। गद्य में आलोचकीय अवधारणा जितनी मुखर हो पाती है, पद्य में उतना संभव नहीं है। इस समय की व्यावहारिक आलोचना केवल गुण दोष कथन करने वाली उक्तियों के रूप में सिमटकर ही रह गयी। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि आलोचना के प्रधान सूत्रों का लक्षण-ग्रंथों में सर्वथा अभाव है। ये लक्षण-ग्रंथ सीधे जीवन से नहीं जुड़ सके।

भारतेन्दु युग में हिन्दी आलोचना के बीज अंकुरित होने लगे थे। यह हिन्दी गद्य के विकास का युग था। हिन्दी आलोचना को सर्वप्रथम यही से गद्य का आधार मिला। परंपरा से चली आती हुई आलोचना की धाराएं हिन्दी में आ मिलीं। भारतेन्दु ने अपने 'नाटक' निबंध में नाटक की प्रकृति, समसामयिक जनरुचि एवं प्राचीन नाट्यशास्त्र की उपयोगिता पर विचार किया है। उन्होंने बदली हुई जनरुचि के अनुसार नाट्य रचना में परिवर्तन करने पर विशेष बल दिया है। भारतेन्दु जी के इस आलेख में आलोचना के गुण मिल जाते हैं। कदाचित यही कारण है कि भारतेन्दु जी को हिन्दी साहित्यकारों बालकृष्ण भट्ट, बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमधन' आदि ने हिन्दी आलोचना को एक नई दिशा प्रदान की।

सन् 1897 ई. में नागरी प्रचारिणी पत्रिका में गंगाप्रसाद अग्निहोत्री का 'समालोचना' निबंध प्रकाशित हुआ उसमें समालोचना के गुणों पर प्रकाश डाला गया है। उसी पत्रिका में जगन्नाथ दास रत्नाकर ने 'समालोचनादर्श' लिखा। वह आलेख अंग्रेज साहित्यकार पोप के 'एसे ऑन क्रिटिसिज्म' का अनुवाद था। तात्पर्य यह है कि द्विवेदी युग के आरंभिक काल में ही हिन्दी आलोचना जिस प्रकार अपनी रूपरेखा तैयार



कर रही थी उसमें एक साथ संस्कृत के काव्यशास्त्र और पाश्चात्य काव्यशास्त्र दोनों के सिद्धांत अपनाये जाने लगे थे। अम्बिकादास व्यास लिखित 'गद्यकाव्य मीमांसा' 53 पृष्ठीय निबंध में संस्कृत आचार्यों, विशेषकर साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ के अनुसार संस्कृत की कथा और आख्यायिका का सांगोपांग वर्णन किया है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने संस्कृत के कई लब्धप्रतिष्ठ कवियों की आलोचना की। उन्होंने कविता और गद्य का अर्थ समझाया। उन्होंने काव्य-रचना संबंधी अपने बहुमूल्य विचार प्रदान किये। इसी बीच मिश्रबंधुओं ने 'मिश्रबंधु विनोद' नाम से साहित्येतिहास लिखकर हिन्दी साहित्यकारों की एक व्यवस्थित आलोचनात्मक रूपरेखा प्रस्तुत की। मिश्र बंधुओं ने सबसे महत्वपूर्ण कार्य अपनी 'खोज रिपोर्ट्स' में प्रस्तुत किया। इसी खोज रिपोर्ट्स में उन्होंने सर्वप्रथम कबीर का एक क्रांतिकारी कवि के रूप में स्थापित किया। इस बीच साहित्यालोचन की परंपरागत कड़ियों को जोड़ने एवं उसकी महत्ता स्थापित करने में बाबू श्यामसुंदर दास की पुस्तक 'साहित्यालोचन' की बहत महत्वपूर्ण भूमिका रही।

भारतीय आलोचना की परंपरा आचार्य रामचंद्र शुक्ल को पाकर समाज से जुड़ गई। जो भारतीय आलोचना आध्यात्मिक दार्शनिक के तत्व चिंतन निरूपण में लगी हुई थी, आचार्य शुक्ल ने अपनी विलक्षण प्रतिभा द्वारा उसे जन सामान्य से जोड़कर निरूपण करना प्रारंभ किया। आचार्य शुक्ल ने 'इस मीमांसा' एवं 'साधारणीकरण' जैसे विषयों की भाव व्यंजना को लोकोत्तर सत्ता से उतारकर लोकसत्ता पर प्रतिष्ठित किया। यह सुखद है कि भारतीय आलोचना की परंपरा लोक और लोकोत्तर दोनों का साथ-साथ विश्लेषण एवं अनशीलन करती हुई अग्रसर हुई है।

आचार्य शुक्ल के परवर्ती आलोचकों में आलोचना की दोनों धाराएँ-लोकोत्तर एवं लोक-समान रूप से विकसित होती चली गयीं। विश्वनाथ प्रसाद मिश्र.

कृपाशंकर शुक्ल, बाबू गुलाब राय, आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय, डॉ. नगेन्द्र, डॉ. लक्ष्मीनारायण सुधांशु, आचार्य देवेन्द्र नाथ शर्मा, जगदीश पाण्डेय, शिव बालक राय, पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु', विनोद शाही प्रसिद्ध विद्वानों ने जहाँ भाषा एवं काव्यशास्त्र को मूलरूप से अपनी आलोचना का माध्यम बनाया वहीं आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, हजारी प्रसाद द्विवेदी, चन्द्रबली सिंह, सुरेन्द्र चौधरी, नलिन विलोचन शर्मा, निर्मल वर्मा, चंद्रभूषण तिवारी, रमेश कुंतल मेघ, देवराज, विजयदेव नारायण शाही, देवीशंकर अवस्थी, डॉ. रामविलास शर्मा, नामवर सिंह, डॉ. पी. एन. सिंह, विश्वनाथ प्रसाद तिवारी एवं परवर्ती प्रगतिशील आलोचकों में लोकोन्मुख चेतना की अभिव्यक्ति होने लगी। यह कारण अतिशयोक्ति नहीं होगी कि हिन्दी साहित्य में मार्क्सवादी आलोचना के उदय के साथ ही पारंपरिक आलोचना अर्थात् भारतीय भाषा चिंतन एवं काव्य-दर्शन संबंधित अनुशीलन की परिव्याप्ति लुप्तप्रायः होने लगी। मार्क्सवादी आलोचना भी शोषण-शोषित समीक्षा दृष्टि से आगे नहीं बढ़ सकी। दूसरी ओर साहित्यालोचन संबंधी मार्क्सवादी दृष्टिकोण के ठोस मानक भी निर्मित नहीं किये गये एवं न ही कोई नई दृष्टि विकसित की गई। मार्क्सवादी आलोचना के लगभग सत्तर वर्षों में भारतीय काव्यशास्त्र एवं भाषादर्शन पर कोई मौलिक चिंतन न हो सका। मार्क्सवादी चिंतन से इतर पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु' एवं विनोद शाही आज हमारी खोती हुई आलोचकीय विरासत को संजोने में लगे हैं।

अब हमें हिन्दी आलोचना की संस्कृति पर विचार करना आवश्यक है। सभी अनुशासनों की आचार संहिता होती है। उस आचार संहिता में रहकर काम करना संस्कृति है एवं अकारण उस आचार संहिता का उल्लंघन कर काम करना विकृति है। आलोचना की इसी संस्कृति को संजोने संवारने में भारतेंदु जी से लेकर शुक्ल जी, महावीर प्रसाद द्विवेदी, हजारी प्रसाद द्विवेदी, नन्द दलारे वाजपेयी. डॉ. नगेन्द्र के बरास्ते अब तक के

आलोचकों तक पहुंची है। साहित्य की संस्कृति विभिन्न खेमों में बंटी हुई नहीं होती है। उसकी एक धारा होती है, जिसकी अंतर्धारा मानवता से जुड़ी रहती है। आलोचना साहित्य की विभिन्न विधाओं का मुखिया है। अतः उसके ऊपर दायित्व भी गुरुतर है। आलोचक की संस्कृति विवेक से जन्म लेती है, विवेक संवेदनाओं की पकड़ से जन्म लेता है। ऐसी संवेदना जो ज्ञानात्मक हो। ज्ञानहीन संवेदना न विवेक पैदा करेगा न उसके आलोचक की संस्कृति ही जन्म ले पायेगी आलोचना की संस्कृति अंततः आलोचक के गणों को ही रेखांकित करती है।

सामान्यतः परंपरागत अर्थ में संस्कृति का बाहरी पक्ष हम लोककलाओं में अभिव्यक्त होता पाते हैं; परंतु संस्कृति का आंतरिक पक्ष चिंतन की सुंदरता और व्यवहार की शालीनता में पाते हैं। चिंतन का सौन्दर्य जितना ही निखार लायेगा आलोचना उतनी ही परिपुष्ट होती जाएगी परंपरा से प्राप्त किसी एक कला में अर्थ-सौन्दर्य की न जाने कितनी अनगिनत छवियाँ सोयी पड़ी रहती हैं। उन अर्थ-सौन्दर्य की छवियों को खोलना ही आलोचना को सम्पन्न करना है। उत्तर आधुनिकतावाद भी शब्द और अर्थ के इसी स्पेस की तलाश करता है। आलोचना जितनी ही संपन्न होगी, उसका सांस्कृतिक पक्ष उतना ही व्यापक होगा। चिंतन जितना विवेकपूर्ण होगा आलोचना उतनी ही गरिमामयी एवं महिमा-मंडित होगी। आजकल आलोचना के 'आत्मसंघर्ष' की चर्चा बहुत जोरों पर है। चूँकि यह बात साधारण है पर इसकी विवेचना इतनी अमूर्त रूप में होने लगी है कि लगता है कि आलोचना किसी बहुत बड़े जंगी संघर्ष में उलझी हुई है। यहाँ संघर्ष की कोई बात ही नहीं है। कुँ में पड़ा हुआ आदमी कुँ से निकलने के लिए जोर लगाएगा ही, संघर्ष करेगा ही। परन्तु जो कुँ में नहीं गिरा है, वह क्यों संघर्ष करेगा। ऊपर उठने के लिए सभी संघर्ष करते हैं। जो दूसरों के विचारों. खासकर खोखले विचारों को ढोये जा रहा है

उसे उन विचारों से मुक्त होने के लिए स्वयं से संघर्ष करना ही पड़ेगा। अर्थात् अपसंस्कृति से संस्कृति की ओर जाने के लिए आलोचक की नहीं सबको संघर्ष करना पड़ता है।

जिस प्रकार रोग के निदान हेतु आयुर्वेद में पहले शरीर में मौजूद विषाक्त पदार्थों का विरेचन करा लिया जाता है और उसके बाद उपचार किया जाता है उसी प्रकार साहित्यालोचक को चाहिए कि पहले वह अपने मन में चलते द्वंद्वों, समाज विरोधी विकारों आदि का विरेचन करे, वर्जन करे ताकि उसमें सम्यक चिंतन साहित्यालोचक के मन में कभी कलात्मक सौंदर्य, कभी राष्ट्रभक्ति, कभी 'वसुधैव कुटुम्बकम्' तो कभी 'सर्वेभवंत सखिनः' का सांस्कृतिक भाव के लिए प्रकट होता है।

संस्कृति का कार्य 'अराजकता' को नियंत्रित करना भी होता है। साहित्यालोचक संस्कृति का सहारा इसलिए लेता है। ताकि वह साहित्य के माध्यम से समाज में फैली सामाजिक भ्रांत धारणाओं का खंडन कर सके। वह अपनी आलोचना के माध्यम से ऐसी रचना का विवेकपूर्ण खंडन करता है जिसके द्वारा समाज में विषाक्त वातावरण तैयार किया जा रहा होता यही आलोचक के विवेक का सौन्दर्य है। अतः सौन्दर्यबोध को संस्कृति की पहली शर्त मानना चाहिए। यहाँ सौन्दर्य का मतलब बाहरी सौन्दर्य की अपेक्षा आंतरिक सौन्दर्य से है। यहाँ मात्र आंतरिक सौन्दर्य की चर्चा हो रही है, जिसकी बुनावट कुत्सित मनोविकारों के विरेचन करने के बाद ही स्वस्थ स्वानुभव के आधार पर शुक्र होती है। सच्ची संस्कृति का निर्याणक वही आलोचक हो सकता है जो मानसिक रूप से अपने वर्गगत हितों को छोड़कर सामाजिक हित के लिए कृत संकल्प हो।

यहाँ सौन्दर्य की जो बार-बार चर्चा हो रही है उस सौन्दर्य का अर्थ रूपवाद से न लिया जाय। यद्यपि रूपवाद भी सौन्दर्यशास्त्र की ही देन है, पर साहित्यालोचन के संदर्भ में वैचारिक सौन्दर्य की यहाँ बात हो रही है।

कला का बाह्य सौन्दर्य स्त्री को बाजार में नग्न कर चुका है। रीतिकाल की जिस अतिशय श्रृंगारिकता की हम निंदा करते हैं, जो सौन्दर्य के नाम पर खूब प्रचारित किया गया; वही वासनाजन्य अभिव्यक्ति कला के नाम पर आज भी हमारी वासनाओं को हवा देने में लगी हुई है। धीरे-धीरे यह नंगापन कलात्मक अभिव्यक्ति से निकलकर समाज में खुलेआम अपना प्रभाव जमा चुका है। और आश्चर्य की बात यह है कि उसे युक्तिसंगत साबित करने के लिए विभिन्न महिला संगठनों द्वारा तरह-तरह के तर्क भी दिये जा रहे हैं। इस मुद्दे पर न तो साहित्यकार मुंह खोलता है, न आलोचक ही। जिस रूपवाद पर आलोचक नाक-भौं सिकोड़ता है उसी की जीती-जागती तस्वीर देखकर अपनी आँखें सेंकता है। आलोचक का यह छद्म रूप देखकर उस पर दया ही की जा सकती है। अस्तु,

अब आलोचक एवं साहित्यकार की भूमिका मूक दर्शक मात्र बनकर रह गयी है। उसका स्वभाव बंद कमरे में बैठकर खुद गाना गाना एवं खुद ही सुनना भर रह गया है। निश्चय ही यह अवस्था चिंतनजनक है, पर यह चिंता तभी दूर हो सकती है जब जो कुछ हम लिखें सामाजिक मंचों से भी उसी की उद्घोषणा करें। अपने समाज को एक सांस्कृतिक पहचान दें। अपने तर्कों द्वारा अनियंत्रित अपसंस्कृति के प्रवाह को लगाम दें। लेकिन फिर भी अपनी बात दुहरा रहा हूँ कि यह सब करते वक्त पहले हमें अपनी वाणी आदि को संयमित एवं सुसंस्कृति की प्रवाह को लगाम दें। लेकिन फिर मैं अपनी बात दुहरा रहा हूँ कि यह सब करते वक्त पहले हमें अपनी वाणी आदि को संयमित एवं ससंस्कृत करना होगा।

सन् 1975 की इमरजेंसी का जिक्र करते हुए नामवर जी ने मार्क्सवादियों पर एक जगह करारा प्रहार किया है। उस इमरजेंसी काल में भी 'अनुशासन' रूपी राजनीतिक सौन्दर्य को बनाये रखने का उपदेश दिया जा रहा था। नामवर जी कहते हैं—“कल कला पारखी

उसे (इमरजेंसी को) अच्छा कहने वाले भी थे। फासिज्म उन्हें कहीं और दिखाई पड़ता था। वहाँ नहीं जहाँ सचमुच था ऐसे। कला पारखियों में मार्क्सवादी भी थे।” (समकालीन हिन्दी आलोचना, सं. डॉ. परमानंद श्रीवास्तव, पृ. 168) दिन में दस बार नामवर जी का नाम जप करने वाले उन वामपंथियों की आलोचकीय दृष्टि पर आज भी वही प्रश्न अपना उत्तर पाने के लिए व्याकुल है जिन लोगों ने भाजपा के भारी जनादेश को हिटलर, तानाशाह एवं फासिज्म का जनादेश माना है। नामवर जी आलोचक अथवा आलोचना की संस्कृति के सच्चे ज्ञाता थे। उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि उन्होंने अपनी बातों को दर्शन के रहस्यमय आवरण में छिपाकर नहीं कहा। सीधी बात और सीधा प्रहार नामवर के व्यक्तित्व का अभिन्न अंग रहा।

संस्कृति को अभिव्यक्त करने का साहस भी होना चाहिए क्योंकि हमारे चारों तरफ अपसंस्कृति की काली चादर लिपटी हुई है। उसे अनावृत करने के लिए हमें संस्कार सम्पन्न दृढ़ मनोबल की आवश्यकता है। यह वही मनोबल है जिसके आधार पर मोहभंग का प्रबल उमंग मन में हिलोरें मारने लगता है। इसी मनोबल से दृढ़ होकर नागार्जुन, मुक्तिबोध, शमशेर एवं रामविलास शर्मा ने जड़ मार्क्सवाद पर कठोर प्रहार करते हुए उससे मोहभंग कर लिया था। भारतीय मार्क्सवाद में आयी जड़ता उसकी निंदा मुक्तिबोध ने खुले कंठ से की है। उनकी कोशिश रही कि मार्क्सवादी जड़ता एवं अपसंस्कृति का समूल नाश कर उसके प्रच्छन्न स्वरूप पर स्वस्थ रचनाएँ हों पर उनके लाख चाहने पर भी ऐसा न हो सका।

आलोचना की जो संस्कृति भारतेन्दु, श्यामसुंदर, मिश्रबंधु, महावीर प्रसाद दिवेदी, रामचंद्र शुक्ल, हजारी प्रसाद द्विवेदी, नंददुलारे वाजपेयी, डॉ. नगेन्द्र, रामविलास शर्मा, मुक्तिबोध एवं नामवर जी के बरास्ते चलकर यहाँ तक आयी है उसपर हम इसलिए गर्व करते हैं क्योंकि उस आलोचना से हमें सांस्कृतिक आधार प्राप्त

होता है। उससे हमें 'सत्यं वद. धर्मं चर' का आचरण प्राप्त होता है।

संस्कृति में आयी भटकाव, अस्मिता की भटकाव बन जाती है। संस्कृति में दूर होना, मतलब अपनी पहचान से दूर होना, मतलब अपने चिंतन से दूर होना। संस्कृति और विकृति में बहुत दूरी नहीं होना। संस्कृति का पालन करते-करते न जाने कब आदमी विकृति का पालन करने लग जाता है। एक लम्बे अरसे तक विकृति का पालन करते रहने से यह भ्रम हो जाता है कि हम संस्कृति का ही पालन कर रहे हैं। ऐसी परिस्थिति में कोई ऐसा मार्गदर्शक पैदा हो जाता है जो हमारी तन्द्रा को झकझोरता है और हमें हमारी संस्कृति और विकृति दोनों का अलग-अलग अभिज्ञान कराता है। विधवा विवाह, सती प्रथा, बाल विवाह आदि संस्कृति में आयी विकृतियाँ थी। जिन्हें राजा राममोहन राय, स्वामी दयानंद सरस्वती आदि महापुरुषों के सद्प्रयास से नष्ट किया गया और संस्कृति के असली स्वरूप का परिचय कराया गया।

आलोचना संस्कृति का निर्माण भी करती है और साहित्य द्वारा वर्णित संस्कृति का अनुशीलन कर उसकी नीर-क्षीर आलोचना भी करती है। उदाहरणस्वरूप, मार्क्सवादी आलोचना में आयी विकृतियों पर अंगुली उठाते हुए नामवर जी कहते हैं—“मार्क्सवादी आलोचक संस्कृति के सामाजिक आधार पर जोर देने के लिए संस्कृति को आर्थिक आधार मात्र बनाकर रख देते हैं; यह मार्क्सवाद नहीं है, मार्क्सवाद का मजाक है। किसी देश की आर्थिक स्थिति के सुधर जाने से अपने आप सांस्कृतिक उत्थान नहीं हो जाता।” (समकालीन हिन्दी आलोचना, सं. परमानंद श्रीवास्तव, पृ. 168) आज संस्कृति का नाम लेते ही मार्क्सवादी आलोचक मुंह बिचकाने लगते हैं। ऐसे आलोचकों को नामवर जी से

सीख लेनी चाहिए।

मार्क्सवादी आलोचना संस्कृति की व्याख्या में जितना भ्रम पैदा की उतना शायद किसी आलोचना पद्धति में नहीं हुआ। ऐसा होने के पीछे मुख्यरूप से जोड़कर देखना, और दूसरे; धर्म को अफीम समझने का शौकिया अहं पाल रखना। परन्तु यह सुखद है कि मार्क्सवादी आलोचना जब-जब संस्कृति पर कुठाराघात करने के लिए आगे आयी तब-तब वहीं उसे सचेत करने के लिए सांस्कृतिक चेतना की आवाज भी बुलंद हुई। अर्थात् विकृति को खत्म करने के लिए संस्कृति आक्रामक बनकर मुखरित हुई। उदाहरणस्वरूप मार्क्सवादी आलोचना के आरंभिक समय में शिवदान सिंह चौहान, राहुल सांकृत्यायन, रांगेय राघव आदि लोकप्रिय साहित्यकार होते हुए भी प्रायः संस्कृति विरोधी बातें लिख जाया करते थे। ऐसे आलोचकों की इन कमियों की ओर रामविलास शर्मा ने प्रभावशाली ढंग से संकेत किया, उन्हें किसी प्रकार की अविचारित टिप्पणी करने के प्रति रोक लगाई।

नामवर जी ने राष्ट्रीय चेतना को भी सांस्कृतिक चेतना ही माना है। हमने अपनी सांस्कृतिक चेतना ही माना है। हमने अपनी सांस्कृतिक चेतना का विकास करके ही साम्राज्यवादी शिकंजे से मुक्ति पायी है। आलोचना की संस्कृति को विकृत करने में जो शक्तियाँ लगी हुई हैं उनका प्रतिकार करके ही हम स्वस्थ सांस्कृतिक चिंतन को विकसित कर सकते हैं।

आलोचना का यह विशेषांक डॉ. नामवर सिंह के पावन स्मृति को समर्पित है। डॉ. मीरा सिन्हा का मैं आभारी हूँ जिन्होंने पूरे विश्वास के साथ इस अंक के लिए मुझे अतिथि संपादक का भार सौंपा है। इस अंक के लिए मुझे जिन आलोचकों, साहित्यकारों का सहयोग प्राप्त हुआ है उन सबके प्रति मेरी विनम्र प्रणति।

हिन्दी विभाग

डिगबोर्ड महिला महाविद्यालय. पोस्ट : डिगबोर्ड, जिला तिनसकिया. असम-786171

संपर्क : 9435137624

## नामवर सिंह और छायावाद

श्री नारायण पाण्डेय

एक समय था जब कोई संगोष्ठी नामवर के बिना जमती नहीं थी, उनके भाषणों को सुनने के लिये सभी बेताब रहते थे, विद्यार्थी अपनी कक्षाएं छोड़कर कमरे के बाहर खड़े होकर सुनते थे, और विरोधी संगोष्ठी से बाहर निकल कर कहते थे, वाह! खूब कहा, अच्छी पटकनी दी। उन्हीं नामवर सिंह के लिये प्रवर्तकाल में लोग क्या नहीं कहने लगे हैं। लोगों ने कहना शुरू कर दिया था, ठीक से सुनते नहीं, समझते नहीं, बहक जाते हैं, स्मृति विभ्रम हो गया है। मगर वह सब सच नहीं है था जितना कहा जा रहा था। इसी दिपावली पर जब मैंने उन्हें फोन किया और कहा मैं श्री नारायण बोल रहा हूँ। आवाज आयी है 'श्री नारायण जी बोलिये', सुन रहा हूँ, आपकी आवाज सुनायी पड़ी यह मेरे लिये बड़ी उपलब्धि है।' मैंने स्वास्थ का समाचार पूछा, 'उन्होंने कहा स्वस्थ हूँ।' जब मैं जन्मदिन पर फोन करता था तो कहते थे, 'आपकी आवाज सूना, लगता है उम्र एक साल और बढ़ गयी है।' अबकी बार पूछा, 'दिल्ली आ रहे हैं जब आये समय निकालकर आइयेगा।' लोगों के स्मृति-भ्रम की बात याद थी। मैंने कहा, कुछ पूछना चाहता हूँ-हाँ, हाँ, पूछिये।' मैंने कहा आप कहा करते थे आचार्य शुक्ल को अंग्रेजी साहित्य का इतना ज्ञान था कि उस समय अंग्रेजी विभाग के अध्यक्ष यू. सी. नाग के यहाँ अगर कोई अंग्रेजी पर कुछ जानने आता था तो वह उसे आचार्य शुक्ल के पास भेज देते थे। यह यू. सी. नाग कौन थे? उन्होंने तपाक से उत्तर दिया, 'वही उपेन्द्र चन्द्र नाग। वही थे।' यारों का भ्रम टूटा या नहीं, हमारा टूट गया कि नामवर जो, हमारे गुरु अभी भी सही सलामत हैं। मैं पचासों साल पुरानी स्मृति को टटोल रहा था। मैंने उसकी चर्चा काशीनाथ सिंह से की, उन्हें सुखद आश्चर्य हुआ था।

यह जग विदित है कि नामवर सिंह बहुत पढ़ाकू थे, ज्ञानपिपास कभी भी बुझी नहीं।

पढ़ने में उनकी अभिरूचि थी, कई भाषाओं का अच्छा ज्ञान था, हिन्दी तो थी ही, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, उर्दू, बँगला, और अंग्रेजी पर खासी दखल थी। साहित्य और भाषा दोनों पर कहते थे केवल साहित्य पढ़कर साहित्य नहीं समझा जा सकता। अतएव खुद भी अन्य विषयों को पढ़ते भी थे, और पढ़ने की सलाह भी देते थे। जिन्होंने उनके पुस्तक संग्रह को देखा होगा, उन्हें यह पता होगा कि उनकी बहुज्ञता का राज क्या था। वे ज्ञानी थे, मगर ज्ञानाभिमानी नहीं। जो नहीं जानते थे, उसे दूसरे से जान लेने में तौहीनी नहीं समझते थे। चाहे पुस्तक लेखन हो चाहे सम्पादन सब में उन्होंने मदद लेकर अपूण को पूण किया है। इसका साक्ष्य पुस्तकों में लिखे गये आभार प्रदर्शन एवं उनके उन पन्नों में मिलेगा जिसे वे समय-समय पर लिखते रहे अन्यथा न लें तो नामवर सिंह के पत्र मेरी पुस्तक में भी देख सकते हैं। वे इतना पढ़े और गुने थे कि बहुत से खोजियों को उनकी मौलिकता पर सन्देह होने लगता था। ऐसे सन्देह का शिकार नामवर जी



ही नहीं रवीन्द्रनाथ ठाकुर, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, प्रेमचन्द तथा और भी बड़े लेखक हुये हैं। जो ज्ञानी होगा, उसे यह तोहफा मिलेगा ही। प्रभाव ग्रहण करना नकलची होना दोनों दो बातें हैं। नामवर जी उर्वर मस्तिष्क बुद्धिजीवी थे, प्रभावित होना स्वाभाविक था।

पढ़ना ही नहीं लिखना भी नामवर सिंह का व्यसन रहा था। आलोचना में तो वे बाद में आये, पहले कवि थे, कविता लिखते, 'चाँदी के टुकड़े सा दिन के पिछले पहर में उगा चाँद' के व्यंग्य लिखे। मगर मन रमा आलोचना में। ख्याति मिली एक आलोचक के रूप में नामवर सिंह के साहित्यलोचन का क्षेत्र हिन्दी साहित्य के आदिकाल से लेकर आधुनिककाल तक है। आरम्भ जरूर हिन्दी साहित्य पर अपभ्रंश के प्रभाव से किया मगर टिके आधुनिक पर, वह भी विशेष रूप से काव्य के आलोचक बनकर। कहानी पर कम नहीं लिखा। अगर रामविलास जी ने 'निराला' को स्थापित किया तो नामवर सिंह ने 'मुक्तिबोध' को जैसे भक्तिकाल में आचार्य शुक्ल ने तुलसीदास को किया है। अगर ध्यान से पढ़ा जाय तो नामवर सिंह समूची आलोचना शैली, शुक्ल जी एवं रामविलास शर्मा का ही विकास है। नामवर सिंह की आलोचना में इन दोनों प्रति भक्तिमूलक भले न हो श्रद्धास्पदी भाव सर्वत्र-विद्यमान है। योजना कई किताबों पर लिखने की थी, हिन्दी साहित्य का इतिहास का इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या से शुरू की थी, लिखे नहीं। उसी तरह प्रेमचन्द पर भी किताब आयी नहीं, भाषाविज्ञान की एक अंग्रेजी किताब का अनुवाद शुरू किया, पूरा नहीं, अनुवाद केवल स्टोरी का ही किया। कहानी और कविता पर मुकम्मल किताब लिखा, सम्पादन भी किया। उसी दौर में उनकी आधुनिक काव्य की प्रवृत्तियाँ आयी और छायावाद भी।

वे कहते थे कि आचार्य शुक्ल का सारा लेखन फरमायशी है, और मेरा भी। मैं जिस पुस्तक की चर्चा करने जा रहा हूँ वह छायावाद है। नहीं कह सकता कि यह फरमायशी है या नहीं। मगर जब लिखा था तो परे

मनोयोग से। उस पुस्तक से उनकी भी नामवरी में चार चाँद लगा था और 'छायावाद' पुस्तक का भी सुनाम हुआ। तब से लेकर अन्त तक छायावाद पर सोचना उन्होंने बन्द नहीं किया था, वे कहते रहे थे कि मैं फिर छायावाद पर लौटूँगा और अब फिर लिखूँगा, मगर यह 'छायावाद, पहले की पुनरावृत्ति नहीं होगी। विचार में इजाफा ही होगा। उनका मन जहाज के पंखों की तरह उड़ उड़ कर छायावाद पर क्यों जाता है, उसकी बड़ी रोचक कहानी है, तो उन्हीं की जबानी सुना जाय।

मैं दिवाली पर डॉ. राहुल पाण्डेय लखनऊ विश्वविद्यालय के यहाँ गया था। उनके यहाँ एक पुस्तक हाथ लगी 'छायावाद', निराला महादेवी और पन्त-नामवर सिंह-सम्पादक, ज्ञानेन्द्र कुमार सिंह, सन्तोष। पुस्तक में नामवर सिंह के छायावादी कवियों पर लिखे गये कुछ लेख, संगोष्ठियों के भाषण और डॉ. किरण सिंह का एक साक्षात्कार संकलित है। पहला लेख स्वच्छन्दतवाद और छायावाद, छायावादी आलोचना तथा साक्षात्कार भी छायावाद पर आधारित था। पुस्तक में सब कुछ छायावाद से सम्बद्ध अभी-अभी दिवाली पर नामवर सिंह से बात हुई, इतना सारा छायावाद देखकर 'छायावाद' पर पुरानी स्मृति जाग गयी। वे दिन याद आये जब नामवर सिंह छायावाद पर एक किताब लिखने की तैयारी कर रहे थे। यों इसके पहले वे 'आधुनिक काव्य की प्रवृत्तियाँ', में छायावाद पर लिख चुके थे।

नामवर जी के लेखन की एक विशेषता है, वे जिस तरह क्लास लेक्चर की तैयारी करते थे, उसी तरह पुस्तक लिखने की भी। चाहे सम्पादन हो या पुस्तक, लेखन, या फिर कोई लेख या संगोष्ठियों में होने वाले वाद-विवाद, या भाषण, उद्देश्य, कुछ नया कहना या फिर "कोई विवाद छेड़ जाना" मैंने पहले ही कहा है जो कुछ कहूँगा, उन्हीं की जबानी पुस्तक में एक लेख है "प्रगतिशील और अग्रसोची महादेवी"। इसमें लिखा है "यह बात मैं आपके विचार के लिये लिख भी रख रहा हूँ. क्योंकि मेरा तो काम ही है. कोई विवाद छेड़ जाना।

सो बात क्या थी वह भी जान लीजिए 'इतिहास बड़ा निर्दय है, बहुत महत्वपूर्ण स्थान महादेवी का है लेकिन विवेचित रूप में निराला और प्रसाद के बाद ही महादेवी आयेंगी।' (पृ. 132)

छायावाद पर वे जो किताब लिखना चाह रहे थे, उसमें भी मामला कुछ ऐसा ही था। छायावाद जो जन्म से ही विवादों का शिकार हो गया था। अवधी मुहावरे में कहें तो 'सौरी में ही जमुआ लग गया था' यानी प्रसूति गृह में ही वह घातक बिमारी का शिकार हो गया था। छायावाद उनके मन में घूम रहा था। शुक्ल जी छायावाद पर कुछ खड़ा मिट्टा लिख चुके थे, विरोध किये थे, प्रशंसा भी थी, नामवर सिंह प्रखर विद्यार्थी थे, अच्छा रिजल्ट करते थे, विद्यार्थी जीवन में छायावाद पढ़ा ही होगा, लगता है कुछ बात तभी से मन में बैठ गयी थी, जब अध्यापक हये और कलम उठायी तो उसपर लिखने की ठानी।

मुझे लगता है हिन्दी के तीन आलोचकों का आलोचना प्रतिपक्ष की आलोचना है, आचार्य शुक्ल, रामविलास शर्मा और नामवर सिंह। दो की सतता की तलाश आप की जियेगा, मैं यहाँ नामवर सिंह की बात कर रहा हूँ, खासकर छायावाद के संदर्भ में। शुक्ल जी को सामने रखकर लिख रहे थे, लोहे को लोहा से काटना था, जिसे काटना था, सख्त जान था, तेज छुड़ी की जरूरत थी। शुक्ल जी ने 'छायावाद के लिये एक लक्ष्मण रेखा खींच दी थी। शुक्ल जी के पहले और बाद भी छायावाद पर विचार हुआ था, भरी भरकम किताबें लिखी गयी थी छायावादियों ने भी अपनी सफाई दी थी। शुक्ल जी ने छायावाद की आलोचना की थी तो अवध उपाध्याय ने भी तुर्की बितुर्की जबाब दिया था। यह सब विवाद कुछ पुस्तकों में कल उस समय की पत्र-पत्रिकाओं में छपा पड़ा है।

उन्हें छायावाद पर लिखने के लिये आचार्य शुक्ल के लेखन ने उत्तेजित किया था। वे छायावादी संदर्भों को खोजने में जटे थे। छायावाद पर मकटधर पाण्डेय

ने श्री शारदा पत्रिका में लेख-लिखे थे। नामवर सिंह जानना चाहते थे कि 'छायावाद शब्द का प्रयोग किसने पहले किया, तथा श्री पाण्डेय ने क्या लिखा है। उन्होंने मुझे भी लिखा, मैंने शारदा, को लेख भेज दिया। पहली के अलावा बाकी किस्ते उन्हें बनारस में ही मिल गयी थी। यह उनके पत्रों में है, जिसे हमने 'नामवर सिंह के पत्र', पुस्तक में छपा दिया है। किरन सिंह का प्रश्न था, छायावाद पर लिखने की आवश्यकता आपने क्यों महसूस की। और उस पुस्तक को लिखने में आपने किसी विशिष्ट पद्धति का उपयोग किया है यदि है तो वह पद्धति क्या है?

'छायावाद' पुस्तक क्यों लिखी, इसकी वजह बताते हुये नामवर सिंह ने कहा है कि 'मेरी दृष्टि में हिन्दी में आधुनिक आलोचना का उदय छायावाद की आलोचना से ही हुआ है। हिन्दी के प्रमुख आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हैं और समझा जाता है कि हिन्दी आलोचना की आधारशिला रखने वाले हैं। शुक्ल जी ने यह जो एक नया काम किया महत्वपूर्ण काम किया। यह अपनी समकालीन छायावादी कविता से टकराकर किया। भले ही आचार्य रामचन्द्र शुक्ल संस्कृत काव्यशास्त्र की शब्दावली का प्रयोग करते हों, लेकिन कुल मिलाकर वे स्वच्छन्दतावादी आलोचक थे। उन्होंने छायावाद की रहस्यवादी कविता का विरोध जरूर किया है, पर प्रशंसा भी की है।' नामवर जी ने देखा कि छायावादी हिन्दी आलोचना की शुरुआत हुई है, अतएव हिन्दी आलोचना के विकास के लिये इससे टकराना होगा।' यानी लिखने का निमित्त आचार्य शुक्ल की छायावाद की आलोचना है। इसके लिये उन्हें अंग्रेजी साहित्य के रोमान्टिक कवि, और उनकी आलोचना से बल मिला इसका उल्लेख उन्होंने अपने साक्षात्कार में विस्तार से किया है।

उन्हें यह लगा है कि आचार्य शुक्ल ने जिस छायावाद के आलोचना की नींव डाली है तो अगर कुछ करना है तो छायावाद की ओर फिर लौटकर आना

पड़ेगा। शुक्ल जी ने छायावाद के बहुत बड़े हिस्से को खारिज किया था, इस लिये छायावाद को फिर से प्रतिष्ठित करना होगा। तभी शुक्ल जी की सीमाओं का पता चलेगा।” नामवर जी को लगा है कि कुछ पसन्द की चीजें उन्होंने छायावाद में चुनकर लीं, लेकिन प्रसाद और निराला की कविताओं से टकराने पर उनके भाव बोध की सीमायें प्रकट होने लगी। क्योंकि उनका भाव बोध पूर्व-छायावादी कवि, श्रीधर पाठक का साथ एक तो पूर्व छायावादी काव्य बोध का होना नामवर जी को शुक्ल जी की सीमा लगा है, दूसरी बात जिसका उन्होंने उल्लेख किया है वह यह कि “रोमान्टिक आन्दोलन को जिसे मैं क्रान्तिकारी घटना के रूप में मानता हूँ, वह हमारे राष्ट्रीय जीवन में एक महत्वपूर्ण घटना है (आचार्य शुक्ल) उस पृष्ठभूमि में छायावाद को देख ही नहीं रहे थे। अन्य बात यह थी कि शुक्ल जी छायावाद को मनपसन्द के खण्डों से चुनचुन कर देख रहे थे। जबकि छायावाद खण्ड, खण्डों को नहीं पूरी छायावादी भावबोध की संरचना है। यह पहचानने की चीज है, जब इसे पहचानेगे तभी छायावादी में निहित सामाजिक अन्तर्द्वन्द्व को जान पायेंगे। इसलिए छायावाद के व्याख्या करने की कोशिश की जिसका उद्देश्य था “रामचन्द्र शुक्ल द्वारा स्थापित आलोचना पद्धति को बदलना और दूसरा यह कि उनके द्वारा स्वीकृत कविता के मूल्य और मानदण्ड को बदलना।”

इस तरह नामवर सिंह छायावाद से टकराये ही हैं, ज्यादा टकराये हैं आचार्य शुक्ल की छायावादी आलोचना दृष्टि से। यह छायावाद लिखने का प्रेरणा स्रोत इसी का फल है कि सारी व्यवस्थाओं के रहते भी उन्होंने बारह अध्यायों की पुस्तक को दस दिन में लिख डाला। नामवर सिंह पर लिखने का नशा भर चढ़े लिखते देर नहीं लगती। उन्होंने अपनी पृथ्वीराजरासों की भाषा, शोध-प्रबन्ध को भी अठारह दिन में लिख डाला था।

जहाँ तक विशिष्ट पद्धति का सवाल है, उसपर उनका कहना है कि “अपनी कविता की विरासत को

सहानुभूति से देखकर उसमें जो विधेयात्मक जीवन मूल्य है, उसकी खोज करके देखा जाय कि आज के लिये-कितना उपयोगी समान उसमें से मिल सकता है। इसी दृष्टि से छायावादी काव्य के कवियों को देखने की जरूरत है। उनका कहना है, जो मूल्यवान है उसे बचा लो। बाकी तो जलना ही है, वह जल जाय समाज भूल जायगा उसे, लेकिन जो बचाया जा सके उसे बचा लेना चाहिये। आज मैं यह शुरू करता हूँ, खास तौर से कि हमारी संस्कृति-बहुत कुछ नई आर्थिक प्रवृत्तियों के कारण नष्ट होती जा रही है, भ्रष्ट होती जा रही है। उसमें जितना बचाया जा सके, बचा लेना चाहिये। इस दृष्टि से अब मैं लिखूँ तो कविता पर भी लिखूँगा। छायावाद की और लौटूँगा। छायावाद नाम की जो पुस्तक लिखी थी, वही नहीं होगी। उसकी पुनरावृत्ति नहीं करूँगा। बल्कि जितना पानी गुजर गया है, पुल के नीचे से, उसके बाद के नये अनुभवों की रोशनी की साये में नये ढंग से कविता को देखने की ओर उसमें उन मूल्यों को पहचानने की कोशिश करूँगा।”

नामवर सिंह प्राचीन से लेकर अर्वाचीन तक के हिन्दी साहित्य के विविध विधाओं के पाठक और आलोचक हैं। एक समय उनका इरादा हिन्दी साहित्य का समग्र इतिहास लिखने का था। शुरूआत भी हिन्दी साहित्य के इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या से की थी। वहाँ भी टकराहट आचार्य शुक्ल से वह इरादा पूरा नहीं हुआ। मगर जिस खण्ड-विखण्ड के पाखण्ड से उनको इतना परहेज है उन्हीं खण्डों की काव्य प्रवृत्तियों, कथा प्रवृत्तियों और भाषा प्रवृत्ति पर उन्होंने किताबें लिखीं।

‘छायावाद’ उन्हीं में से एक है। उनका मानना है कि संघर्षों के बीच से ही वैचारिक प्रवाह आगे बढ़ता है। हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन के संदर्भ में वे कहा करते थे कि हिन्दी साहित्य में, भक्तिकाल और छायावाद दोनों ऐसे संघर्ष के काल हैं जिन्होंने साहित्य को दिशा दी है। वे भी औरों की तरह मानते हैं कि

“भक्तिकाल के बाद सर्वश्रेष्ठ काव्य छायावाद में ही लिखा गया। इस कविता आधार पर ही आलोचना की ठोस और मूल्यवान शिला रखी जा सकती है।” इसलिये भी उन्होंने छायावाद पर कलम चलायी थी। नामवर सिंह की स्वाभाविक एक बात पर और ध्यान देना होगा कि हिन्दी साहित्य के नवजागरण के संदर्भ में जिस सांस्कृतिक नवजागरण का नामवर जी। अभियान नामवर जी चलाया है 15 वी सदी के लोक जागरण से आरम्भ होने वाले संस्कृति लोक जागरण की अलग कड़ी में छायावाद के संस्कृति के जागरण को भी देखा जाना चाहिये। क्योंकि यह केवल काव्यान्दोलन नहीं, 19 वी सदी में होने वाले सांस्कृतिक जागरण का जातीय रूपान्तर भी है, जिसमें समाज इतिहास, राजनीति, धर्म, भाषा सब कुछ समाहित है। इसे ही वे छायावादी भाव बोध की संरचना कहते हैं। तथा इसी को पहचानने पर बल देते हैं।

छायावाद का यह भावबोध छायावादी काव्यन्लोक से भिन्न उस काल के काव्येतर साहित्य तक फैला हुआ है। इसी दिशा में काम करते हुए उन्होंने प्रगतिशील और अग्रसोची महादेवी के रहस्यवाद के सामाजिक आधार का उद्घाटन किया है, तो ‘रूपाभ’ से लेकर समूचे पन्त काव्य के सामाजिक आधार की तलाश की है। कामायनी के पुनर्मूल्यांकन को सार्थक बताया तो ‘प्रलय की छाया’ की प्रासंगिकता पर विचार किया। यही नहीं गद्य लेखन में छायावादी कवियों के आलोचनात्मक महत्व का आकलन किया। और कहा कि ‘ऐतिहासिक दृष्टि से प्रसाद निराला और पंत के आचार्य शुक्ल के साथ ही हिन्दी समीक्षा को प्रौढ़ बनाने में योग दिया है।’

यह सब नामवर सिंह के छायावाद चिन्तन व विस्तार है। इन सबको एक साथ रखकर ही उनके छायावाद पर किये गये विचारों को समझा जा सकता है।

यह है नामवर सिंह का निरंतर विकसित होने

वाला आलोचनात्मक विवेक, जिसके तहत वे छायावाद को पुनर्व्याख्यायित करना चाह रहे थे, बहुतेरे समझदारों को उनके इस विवेक में अन्तर्विरोध दिखाई पड़ता है। अल्लाह उन्हें भी समझने का विवेक दे। चिन्तन में पुनर्वता नामवर सिंह की स्वाभाविक प्रवृत्ति रही है। छायावाद में विरोध का प्रमुख मुद्दा रहस्यवाद था। आचार्य शुक्ल उनका विरोध करते थे। उन्होंने इसपर एक किताब भी लिख दिया था। उनके इस विरोध का विरोध छायावादी कवियों ने तथा कुछेक अवध उपाध्याय जैसे लोगों ने किया भी। आचार्य शुक्ल इसे यूरोपीय आयात मानते थे जब कि छायावादी लेखकों ने पूरा सम्बन्ध भारतीय से जोड़ा था। खैर जो हो, शुक्ल जी को यह आध्यात्मिक रहस्यवाद पसन्द नहीं था। उन्होंने लिखा है कि यूरोप वालों के हमारी आध्यात्मिकता बहुत पसन्द आती है। उन्होंने यह भी लिखा है कि पं. रामविलास जी पाण्डेय और पं. चन्द्रधर शर्मा गुलेरी इस आध्यात्मिकता की चर्चा से बहुत घबराते थे। इस तरह का विवाद छायावाद के मूल्यांकन में चला आ रहा था। बाद में जब प्रगतिशील आलोचकों ने यह कहना शुरू किया कि छायावाद “आधुनिक युग की सबसे प्राणवान कविता है” (नामवर सिंह) या यह साबित करने लगे कि भक्ति के बाद सबसे बड़ा जागरण है, तब जरूरी हो गया कि रहस्यवाद को भी खपाया जाय। साथ ही यह भी जरूरी हो गया कि छायावाद के ध्वंसकर्ता शुक्ल जी को ध्वंस किया जाय।

रामविलास जी यह कहकर संतोष की साँस ली कि ‘शुक्ल जी और छायावादियों के विवाद में विजय छायावादियों की ही रही। (वकौल नामवर सिंह) फिर जब नामवर सिंह ने कलम उठायी तो लिखा रहस्यवाद/छायावाद कवियों की रहस्य भावना का एक सामाजिक रूप है।’ शुक्ल जी द्वारा छायावाद रहस्यवाद के खंडन-मंडन को देखकर नामवर जी ने कहा कि बुद्धि है तो आदमी क्या नहीं कर सकता। वही बात नामवर जी पर भी लागू होती है। वे जब शुक्ल जी पर वार करने उठे

तो कहना पड़ा कि शुक्ल जी का 'हिन्दुत्व' जाग उठा। यह लचर तर्क है। धर्म के भीतर अन्तर्निहित आध्यात्मिक रहस्यवाद के जिस जिन्न को शुक्ल जी ने दफना दिया था, उसे रामविलास जी एवं नामवर जी दोनों ने फिर से जिन्दा कर दिया। यह सब नामवर जी ने तब लिखा जब उन्होंने इस विषय पर अंग्रेजी में बहुत किताबें पढ़ चुके, क्योंकि 'साक्षात्कार' में उन्होंने लिखा है कि शुक्ल जी ने तब एक दो किताबें पढ़कर छायावाद पर लिखा था।

नामवर सिंह ने 'काव्य में रहस्यवाद, जिस पुस्तक का उल्लेख किया है वह सं 1986 में, साहित्य भूषण कार्यालय बनारस से छपी थी। यह पहले निबंध रूप में छायावाद में पुस्तकों के रूप में छाया फिर चिन्तामणी भाग-2 में संकलित हुआ। इसमें उन्होंने लिखा था कि 'यह निबन्ध केवल इस उद्देश्य से लिखा गया है कि, रहस्यवाद या छायावाद की कविता के सम्बन्ध में भ्रान्तिवश या जानबूझकर, जो अनेक प्रकार की बे सिर पैर की बातों का प्रचार किया जाता है, वह बन्द हो। कोई कहता है यही वर्तमान युग की कविता है, कोई समझता है कि यही कविता का रूप है। किसी सभ्य जाति के साहित्य में क्षेत्र में ऐसे-ऐसे वादों का फैलना शोभा नहीं देता।'

मैं रहस्यवाद का विरोधी नहीं हूँ, मैं भी इसे कविता की एक शाखा मानता हूँ, पर जो इसे काव्य का सामान स्वस्थ समझते हैं उनके अज्ञान का निवारण मैं बहत ही आवश्यक समझता हूँ।'

शुक्ल जी की बेदखली और छायावादी कवियों की बहाली पर विचार करने के पहले शुक्ल जी के इस कथन को भी ध्यान में रखना होगा।

नामवर सिंह प्रगतिवादी आलोचक हैं। छायावाद और छायावादी कवियों के साहित्य के मूल्यांकन में प्रगतिवादी खेमें में कहीं-कहीं मत पार्थक्य के मिल सकता है। परन्तु कुल मिलाकर साहित्य में छायावाद के महत्व को सबने स्वीकार किया है। डॉ. रामविलास

शर्मा के पसंदीदा 'निराला' जी हैं जरूर मगर प्रसाद, महादेवी और पंत से भी अपने काम का मसाला चुनकर उन्होंने उन्हें भी प्रगति चिन्ताधारा का पाथिक कहा है। रामविलास शर्मा की दृष्टि में छायावाद पर चर्चा होनी चाहिये।

नामवर सिंह की छायावादी लेखकों पर स्वतंत्र, पुस्तकें भले न हों, उन्होंने विभिन्न आलेखों, वक्तृताओं में उनपर अपने मीठे-कड़वे विचार व्यक्त किये इसपर विचार आवश्यक है। उन्होंने बीसवीं सदी के हिन्दी साहित्य की जो गैलेक्सी बनाने की बात की है, उसमें क्रम से प्रेमचन्द, प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी हैं। शायद यह क्रम उनकी आलोचना का निर्देशक है।

यहाँ मैं नामवर सिंह का एक उद्धरण आपको पंत और महादेवी को समझने के लिये दूँगा। उन्होंने हिन्दू विश्वविद्यालय के एक संगोष्ठी में कहा था। "कोई नहीं जानता कि महादेवी ने कोई कमजोर चीज़ें लिखी हैं। जो समाने है, उनमें एक भी चीज कच्ची नहीं है। पन्त जी का जितना अच्छा है, उसका तीन चौथाई कूड़ा है, उनकी रचनावली देखिये, उन्होंने काफी खराब लिखा है।" इसलिये महादेवी को पंत से ऊँचा स्थान देना होगा।" ध्यान दीजियेगा शुक्ल जी ने पंत की प्रशंसा की है। पता नहीं नामवर जी पंत पर इतने अनुदार क्यों थे। इस अनुदारता के वाबजूद उन्होंने पंत को तीसरे स्थान पर बैठाया है और महादेवी को ढकेलकर चौथे पर कर दिया है। नामवर जी सब जगह महादेवी पर मेहरबान रहे हैं, ऐसा नहीं है। और न पंत जी के प्रति निष्ठुर।" पंत और नई पीढ़ी में उन्होंने लिखा है-"विचारों के क्षेत्र में पंत जी की जागरूकता असंदिग्ध है। पिछले चालीस वर्षों में, दर्शन, विज्ञान, राजनीति तथा साहित्य सम्बन्धी जितनी महत्वपूर्ण विचारधारायें उठी हैं उनपर पंत जी की सतर्क दृष्टि रही। अपने ढंग से उन्होंने इनमें से समाधान ढूँढ़ने का प्रयत्न किया। इस समाधान में ऊपर से कोई दुर्बलता नहीं दिखती। लोक कल्याण और विश्वमंगल के मानवतावादी आदर्श से उनका



काव्य अनुगुंजित है छायावादी संस्कारों के बावजूद उन्होंने व्यक्तिवादी दायरे से मुक्त होकर व्यापक सामाजिकता का जयगान किया।” किन्तु इसकी आलोचना भी की है।

नामवर सिंह यह आलोचना की अन्तर्विरोध नहीं आलोचकीय विवेक है, जो उन्हें जड़ बुद्धिवादी आलोचकों से अलग करता है। अतएव नामवर सिंह की पड़ताल जरूरी है को ध्यान में रखकर उनके द्वारा की गई छायावाद पर हो अन्य किसी पर पढ़ना और मनस्थिर करना चाहिये। इस लिये कि लेखक से अधिक वक्ता है अतएव हर वक्ता का हूबहू मिलाकर पढ़ने से कठिनायी होगी। कुछ न कुछ इधर उधर हो ही जाता है। मैं उनकी आलोचकीय दृष्टि का उल्लेख कर रहा हूँ। उन्होंने ‘रचना और आलोचना के पथ पर’ में कहा है कि “प्राध्यापकीय या शास्त्रीय आलोचना सच्ची

आलोचना नहीं है। वाकी आलोचना की चिन्ता साहित्य से अधिक संस्कृति की होती है। आलोचक का एक मुख्य उद्देश्य यह भी है जैसा कि इलियट ने कहा है “हर आलोचक इतिहास की या अपनी परम्परा की पुनःव्याख्या करता है। यों कहें कि आलोचना का एक कैनन होता है, यानि कि आपकी दृष्टि में जो सबसे महत्वपूर्ण हो, सार्थक हो, वह क्या है। आपकी सूची क्या है, आपकी सूची में कौन लोग हैं। आलोचना का दायित्व है कि साहित्य में प्रचलित कैनन पर विचार करने और जरूरत हो तो उस कैनन को बदलना।”

(तद्भव अंक 3, 2000 सं.)

अब आप समझ सकते हैं कि नामवर सिंह हवा में तीर नहीं चलाते। उनकी अपनी सूची है, सूची में लोगों का नाम दर्ज है। मन में यह भी दर्ज है कि किसको क्या कहना है। छायावादी कवियों पर की गई उनकी टिप्पणी सोची समझी आलोचना दृष्टि की उपज है।

संपर्क :- 8004040476

## ताक रहा है भीष्म स्वर्णों की कठिन सेज पर

विमल वर्मा

“छवि हुआ अस्त ज्योति के पत्र पर लिखा अमर  
रह गया राम रावण का अपराजेय समर”—‘निराला’

‘निराला’ की ये पंक्तियां हाइडेगर का स्मरण करा देती हैं। उसने लिखा था—“पृथ्वी पर उगते मरुस्थल(नीक्षे) से मानव की अंतरआत्मा को बचाना अनुस्मरणात्मक चिंतन और छवि कवि कर्म द्वारा संभव है।”...वैचारिक संभावनाओं को जागृत करना, उन्हें आज की वास्तविकता में उतारना प्रमुख कृतित्व है। इस परिप्रेक्ष्य में श्रद्धेय डा. नामवर जी निराला की तरह हमारी परम्परा थे। इस इतिहास पुरुष ने हमारे युग को अपनी विश्व दृष्टि द्वारा इतिहास से खंगाल कर, निरन्तर तात्कालीन उभरती हुई नवीनतम चुनौतियों से मुठभेड़ें की। उन्हें तो महाकाल ने लील लिया। परन्तु इतिहास हमें अवकाश नहीं देता। मार्क्सवादी इतिहासकार एरिक हाब्स वाम ने वर्तमान को इंगित करते हुए लिखा है—“इतिहास राष्ट्रवादी या नृजातीय या पुनरुत्थानवादी विचारधारा के लिए उसी तरह कच्चा माल होता है जैसे हिरोइन के नशेड़ियों के लिए अफीम।...अगर अतीत अनुकूल नहीं होता तो उसे उसे अपने अनुकूल गढ़ लिया जा सकता।...साहित्य और मानवशास्त्र विभागों में ‘उत्तर आधुनिक’ फैशन चल पड़ा है। इसके मुताबिक वस्तुनिष्ठता का दावा करने वाले सभी तथ्य दरअसल ‘बौद्धिक निर्मिति होते हैं।’ नामवर जी का कृतत्व यदि विवेचित किया जाय तो यहां वह हिन्दी साहित्य में एरिक आब्स वाम के रूप में दिखेंगे। क्योंकि उनके लेखन में देशकाल की तात्त्विकता का संक्रमण ज्योतिषित होता है।

मेरा निवेदन है कि पाठक यह न महसूस कर ले कि मैं साहित्य-आलोचना को इतिहास और दर्शन बना रहा हूँ। चूंकि आज अस्मिता की राजनीति के तहत मिथक और झूठ गढ़ कर प्रचारित किये जा रहे हैं। नामवर जी इन्हीं मिथ्यात्वों का पर्दाफाश करने के लिए ‘सहज बोध के विरुद्ध संघर्ष’ और ‘परम्परा और मूल्यांकन का मार्क्सवादी पक्ष’ शीर्षक लेख लिख कर पाठकों को सहज और सचेत किया था। इस प्रकार वह अपनी सम्पूर्ण आलोचना प्रक्रिया में इतिहास की भूमिका, उसकी सार्थकता को स्पष्टता के साथ रेखंकित करते रहे।

परन्तु विडम्बना यह है कि कुछ बौद्धिक संचार माध्यम की भोंड़ी नकल कर के चमत्कार-कौशल से ‘नामवर’ जी के प्रति ‘अन्धव्यक्ति पजा’ का मायाजाल रच कर उनके प्रैक्सिस के वर्चस्व के शिखर रचने में सक्रिय हैं।

अतएव हमारा सामूहिक प्रयास होना चाहिए कि हम पाठकों का ध्यान इस अन्धव्यक्ति पजा से हटाकर उनकी रचनाशीलता में ‘वर्ग-चेतन श्रद्धा’ वाले बिन्दुओं को हाईलाइट करें।

गनीमत है कि इस अन्धड़ में भी इन दिनों मैनेजर पाण्डे, विष्णुचन्द शर्मा, कर्ण सिंह चौहान, डॉ. आनन्द प्रकाश, डा. जगदीश्वर चतर्वेदी, परशुराम, डॉ. अजय तिवारी आदि इने-गिने आलोचक

हैं। ये लोग जहां एक ओर नामवर जी की आलोचना पद्धति की प्रासंगिकता और सार्थकता को परिभाषित करते हैं, वहीं उनके प्रमुख अन्तर्विरोधों, उनके द्वारा उपेक्षित अनिवार्य तथ्यों, उनकी पहचान की सीमाओं को भी निर्धारित करते हैं। परन्तु इससे उनका महत्त्व कम नहीं होगा।

आलोचक नलिन विलोचन शर्मा ने लिखा है—“प्रेमचन्द उस शिखर के समान हैं जिनके दोनों ओर पर्वत के दोनों भागों के उतार-चढ़ाव हैं। हमें पर्वत के दोनों भागों और उनके शिखर को, दूर से और समीप से अवलोकन का प्रयास करना है।”

‘नलिन जी’ के ये शब्द क्या नामवर जी पर लागू नहीं हो सकते?

डॉ. नामवर सिंह के युग में विराट-ऐतिहासिक परिवर्तन, उस युग के इतिहास विधायक संघर्ष क्या उनकी आलोचना में अभिव्यक्त नहीं हुए हैं।

मेरे मन में बार-बार यह प्रश्न उठता है कि क्या उनकी स्थापनाएं समाज में अस्तित्व की मार्क्सिय सत्ता-मीमांसा का बोध कराती हैं। साथ ही साथ क्या उनमें निरुपित अन्तःसम्बन्ध ऐतिहासिक प्रक्रियान्तर्गत संरचनागत रूपायन पा गये हैं? उन्हें तत्कालीन अन्तर्विरोधों के सम्बन्धों में जांचना-परखना पड़ेगा।

स्वयं डा. नामवर सिंह ने बेंजामिन को उद्धृत किया है—“अब दुश्मनों के हाथों, जो मृत लोग हैं, वे भी सुरक्षित नहीं हैं और इसलिए हमें केवल जीवित लोगों के लिए ही नहीं लड़ना है, बल्कि उनके लिए भी लड़ना है जो मर चुके हैं, इतिहास के अंग हो चके हैं।” (थीसिस आन फिलासफी)

अतएव “परम्परा के मूल्यांकन के सिलसिले में जब भी ‘रेलिवेंस’ की बात उठायी जाती है, स्पष्ट है कि उस प्रासंगिकता का एक निश्चित लक्ष्य मूल्य के स्तर पर, जन समुदाय के स्तर से सम्बद्ध होता है और स्वयं अपने राष्ट्रीय जीवन के विकास की दृष्टि से उसकी प्रासंगिकता को रेखांकित करता है।” (आलोचना और

विचारधारा पृ. 53-54)

इसी प्रकार व्यापक परिवर्तनों के इतिहास की चर्चा करते हुए एरिक हाब्सवाम ने भी लिखा है—“पिछली कुछ सदियों के दौरान नाटकीय तेज़ी के साथ बड़े व्यापक बदलाव हुए हैं। इतिहास कर यह सकता है। कि सान्यतौर पर इन ऐतिहासिक बदलावों और ज़्यादा खासकर मानव समाजों के रूपान्तरणों के ढर्रों और प्रक्रियाओं को खोजें। समकालीन समाज और इसकी संभावनाओं के लिए सीधे तौर पर प्रासंगिक यही है न कि भविष्यवाणी और उम्मीदें।” (समकालीन समाज के बारे में इतिहास क्या बता सकता है-पृ. 49)

डा. नामवर सिंह की विगत महत्ता और वर्तमान अर्थवत्ता के मूल्यांकन और विसर्जन के लिए अतिवादी तर्क प्रणालियों ने भ्रामक पाठकीय आवेग पैदा किये हैं। (1) विचारधारा ही आधार बना कर कला का मूल्यांकन। (2) पुराने विचारक होने के कारण उसकी दृष्टि के आलोक में कला का निरर्थक हो जाना। (3) कृतिकार के गतिमान विकास, सृजनात्मक प्रक्रिया की अवहेलना। (4) आलोचक की आलोचना को प्रश्नातीत समझना एक आलोचक द्वारा पद्धति का विकास-कार्य कठिन और श्रमसाध्य प्रक्रिया है। इसलिए नामवर जी की आलोचना पद्धति पर मनन करने के लिए तत्कालीन वस्तुगत स्थितियों और प्रवृत्तियों की आलोचनात्मक मीमांसा के लिए मुझे उन प्रगट एवं प्रच्छन्न मध्यवर्ती कारकों की तलाश करनी पड़ेगी जिन्होंने उन सैद्धान्तिक रचनात्मक मानस को तैयार किया। उसी ने नामवर जी की भावी प्रैक्सिस को प्रभावित किया। इससे यह भी इंगित मिलेगी कि ‘क्यों’ और ‘कैसे’ परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों का तनाव अपने चरम पर आ पहुंचा।

लेख को विस्तृत करने का इन सीमित पृष्ठों में अवकाश नहीं है इसलिए तत्कालीन उथल पुथल की ओर इंगित करने के लिए जानक्लार्क आदि द्वारा संपादित ‘क्लवर एण्ड क्राइसिस इन ब्रिटेन इन थर्ड जेनरल से जेम्सक्लगमान’ द्वारा लिखित लेख का सिर्फ

एक पैराग्राफ उद्धृत करूंगा—इतिहास में कुछ ऐसे दौर हैं, जहाँ चीजें मुश्किल से गतिशील होती हैं, जो अवरोध की तरह दिखाई देते हैं, जहाँ से जब आप अतीत की ओर देखते हैं तो एक क्षण को दूसरे क्षण से अलग करना मुश्किल हो जाता है और जो अद्भुत परिवर्तन, संघर्ष और तूफान से भरा हुआ है। निश्चित ही, तीसरा दशक ऐसे ही एक संघर्ष का दौर था। जरा सोचिए उन घटनाओं के बारे में—भारी मंदी(1929), मंचुरिया पर जापानी आक्रमण (1931), हिटलर का जर्मनी में सत्तारूढ़ होना(1933), फॉसीज्म के खिलाफ फ्रांस का संघर्ष उत्तर पश्चिम में येनान की राजधानी तक प्रसिद्ध ‘लॉंग मार्च’ (1936), अब्यस्सिनिया का हेलियन पर आक्रमण (1935), स्पेन और फ्रांस में पॉपुलर फ्रंट सरकार की स्थापना (1936), स्पेन का गृहयुद्ध(1936-39) म्यूनिख विश्वासघात(1938), नाजी जर्मनी द्वारा आस्ट्रिया और चेकोस्लोवाकिया पर आक्रमण(1938) द्वितीय विश्वयुद्ध का आरंभ(1939)।

सोवियत क्रान्ति और उसके विश्वव्यापी प्रभाव समाजवादी व्यवस्था की विशेषताओं, उनकी असंगतियों के बारे में अतिविस्तार से प्रचार-प्रसार भी हुआ है। पाठक इससे भली-भाँति परिचित हैं।

मैं इसी संदर्भ में सातवीं कांग्रेस में दिगिन्ट्रोम द्वारा प्रस्तावित Theory of united front का स्मरण करना चाहता हूँ। इसी कांग्रेस में बर्किंग क्लास और मजदूरों के विस्तृत भाग की चेतना के स्तर का विश्लेषण किया गया था। “...मजदूरी और काम की अवधि पर लड़ाई, आजादी की लड़ाई, एकजुट होकर लड़ाई लड़ना फासीज्म के खिलाफ लड़ाई.....इसी तरह के अनेक संघर्ष। प्रत्येक स्वतंत्रता जो लोगों के मार्क्सवादी क्रांति के लिए जोड़ता है और इस प्रकार से मजदूर वर्ग लोकतंत्र की लड़ाई में पूरे समुदाय का नेतृत्व कर सकती है।

दूसरे प्रकार का मुद्दा जो सातवें कांग्रेस से उत्पन्न मार्क्सवाद और लेनिनवाद का देशभक्ति और अंतर्राष्ट्रवाद अवधारणा की पुनर्स्थापना जो सातवें

कांग्रेस से उत्पन्न हुआ था।

हालांकि, स्टालिन काल में स्टालीन के विशेष मत के कई ऐसे पहलू हैं जो हमारे कार्य को भी भ्रम में डालते हैं। ऐसा इसलिए था क्योंकि हमलोग सोवियत संघ के आदर्श मानते थे, वास्तव में जैसा कि सभी आदर्शवाद और अराधनावाद हमेशा लड़ाई को मजबूत करने की अपेक्षा कमजोर बनाते हैं।”

वल्गर मार्क्सवाद पर हाब्समान ने लम्बा लेख लिखा है उसमें सब परिचित हैं।

स्वाधीनता आन्दोलन के इतिहास में सन् ‘42 के आन्दोलन का नेतृत्व कांग्रेस पार्टी के हाथ से निकलकर गैर-कम्युनिस्ट वामपक्षी दलों के हाथ में आ गया। डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा है—“देश का विभाजन हुआ, साम्प्रदायिक जनसंहार संगठित करके अंग्रेजों ने जबाबी हमला किया। कांग्रेसी नेताओं ने अंग्रेजों से समझौता किया। गुन्नार मिर्डल ने एशियाई देशों की गरीबी पर अपनी पुस्तक में लिखा है, “इस क्षेत्र में अपनी राजनीतिक प्रभुता छोड़ने का जो फैसला ब्रिटेन ने किया उसका फल यह निकला कि भारत और पाकिस्तान में वह अपनी वित्तीय, औद्योगिक और व्यापारिक स्थिति लगभग ज्यों का त्यों बनाये रहा।” (Asian Drama, 152) ब्रिटेन और भारत के पूंजीपतियों का सामान्य हित इस बात में था कि ब्रिटेन की जो वित्तीय, औद्योगिक, व्यापारिक स्थिति यहां लगभग ज्यों की त्यों बनी रहे। ..इस तरह साम्राज्यवाद कसे अन्तर्विरोध के बावजूद भारतीय पूंजीवाद ने उससे नाता नहीं तोड़ा, वह उनके प्रभाव क्षेत्र में बना रहा। 19 नवम्बर 1983 के टाइम्स ऑफ इन्डिया ने कामनवेल्थ संबंधों के बारे में लिखा था—“इसके सिवा भारत और ब्रिटेन की मैत्री का ठोस आर्थिक, सांस्कृतिक और प्रौद्योगिक आधार है। यह आधार यदाकदा के राजनीति मतभेदों और नाराजगी पर काबू पा लेता है।”

‘कामनवेल्थ की विशेषता यह है कि इसमें एक विकसित. अर्थात् साम्राज्यवादी देश ब्रिटेन के प्रतिनिधि

है। वे सब एक ही स्वर में बोल सकते हैं। कामनवेल्थ में ब्रिटेन में भारत ब्रिटेन के साथ... 11 नवम्बर 1983 में टाइम्स आफ इंडिया में यह समाचार छपा कि सुरक्षा सम्बन्धी महत्तों के विकास में ब्रिटेन भारत से सहयोग करेगा।

प्रगतिशील लेखक के जन्म, आन्दोलन, अन्तर्विरोध और विसर्जन पर बहुत ज्यादा लिखा गया है।

ऊपर मैंने संक्षिप्ततम रिपोर्ट इसलिए लिखा कि डा. नामवर इस लम्बे और कष्टदायक विकास की अन्तर्क्रियाओं और उपलब्धियों के अध्येता थे।

यह कोई संयोग नहीं है कि प्रदत्त काल में विभिन्न प्रवृत्तियों की उत्पत्ति, भौतिकवादी विश्व दृष्टिकोण की लाक्षणिक विशेषताएं उनकी रचनाओं में कौंध जाती हैं। उनकी आलोचना पद्धति में दर्शन को उससे अलग नहीं किया जा सकता। मार्क्स ने लिखा है “दार्शनिक कुकुरमुत्तों की नाई ज़मीन से नहीं निकल आते हैं; वे अपने समय के अपनी जाति के उत्पाद होते हैं... जो भावना मजदूरों के हाथों से रेलमार्गों का निर्माण करती है, वही दार्शनिकों के मस्तिष्कों में दार्शनिक प्रणालियों की रचना करती है।”

इसी प्रकार नामवर सिंह “रामचन्द्र शुक्ल, हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ. रामविलास शर्मा, चन्द्रबलि सिंह प्रकाशचन्द्र गुप्त, नन्द दुलारे वाजपेयी के उत्तराधिकारी थे। डॉ. नगेन्द्र, अज्ञेय, विजय देव नारायण शाही उनके साथ आलोचना कर्म में प्रवृत्त थे। यद्यपि नामवर जी की विशिष्टता का विस्तृत विवेचन शोध का विषय है। परन्तु नामवर जी की रचनाओं और व्याख्यानों में प्रगट, और अप्रगट रूप में सभी मौजूद मिलते हैं।

विजयदेव इत्यादि के नेतृत्व में यह अभियान चलाया गया। इसके विरोध में प्रगतिशील लेखक भी सक्रिय थे।

मुद्राराक्षस ने ‘आलोचना के समाजशास्त्र’ नामक पुस्तक में लिखा है—“बीसवीं सदी के मध्य की समाजशास्त्रीय बहसों की एक बड़ी घटना का सीधा

रिश्ता साहित्य से जुड़ा हुआ है।... वहीं कुछ लोगों ने ऐसी समाज व्यवस्था का विरोध शुरू किया, जो दनिया में आर्थिक बराबरी की मांग करती थी।

डैनियल बेल, श्लेसिंगर आदि ने 1955 में मिलान के सम्मेलन में मार्क्सवादी विचारधारा विरोध के लिए ‘कांग्रेस फार कल्चरल फ्रीडम’ नाम के संगठन की शुरुआत की। इनके ‘इनकाउन्टर’ पत्रिका से सभी अवगत हैं। जिसे सी. आई. ए. का आर्थिक सहयोग प्राप्त थी भारत में शायद इसकी शाखा ‘परिमल’ नामक संस्था के नाम से खोली गयी। ‘व्यक्ति स्वातंत्र्य’ के पक्ष में विश्व भर में मार्क्सवाद विरोध का आन्दोलन शुरू हुई भारत में भी परवर्ती अज्ञेय, धर्मवीर भारती, जगदीश गुप्त, लक्ष्मीकान्त वर्मा, विजयदेव नारायण शाही इत्यादि के नेतृत्व में यह अभियान चलाया गया। इसके विरोध में प्रगतिशील लेखक भी सक्रिय थे।

लेखक की व्यक्ति स्वाधीनता और मार्क्सवाद के विरोधी अभियान में धर्मवीर भारती की पुस्तक ‘मानवमूल्य और साहित्य’ प्रकाशित हुई। उसका सैद्धान्तिक उत्तर देते हुए नामवर जी ने ‘आलोचना’ पत्रिका में ‘इतिहास का नया दृष्टिकोण’ नामक लेखक लिखा। वह लेख ‘इतिहास और आलोचना’ पुस्तक में संग्रहित है। इस लेख में हिन्दी साहित्य के इतिहास में द्वन्द्वात्मक प्रणाली का प्रयोग के बारे में द्वन्द्वात्मक प्रणाली की विशेषताओं के सिद्धान्त के रूप में रूपायित किया गया। ‘इतिहास और आलोचना’ के 1978 के संस्करण में डा. साहब ने लिखा है ‘यह पुस्तक छठे दशक के वैचारिक संघर्ष एक विवादमूलक दस्तावेज है।’ “इस वैचारिक संघर्ष में प्रगतिविरोधी विचारों का जबाव देने में इन निबन्धों ने एक भूमिका अदा की थी।”

चूँकि शुरुआत में मैंने इनके वर्ग चेतना श्रद्धा के पक्ष की बात उठायी थी। अतएव मैं इस श्रद्धांजलि लेख में विचारधारा के बिन्द तक ही इसे सीमित रखंगा।



मुरली मनोहर प्रसाद सिंह ने डॉ. रामविलास शर्मा की पुस्तक “पाश्चात्य दर्शन और सामाजिक अन्तर्विरोध” नामक पुस्तक में आर्थिक बुनियाद और अधिरचना बीच का फासला अध्याय के बारे में लिखा है कि इस अध्याय का महत्त्व इसलिए भी है कि हिन्दी समालोचना में इस समस्या पर बहस छिड़ती रही है। आर्थिक संरचना है क्या? मार्क्स ने स्पष्ट तौर पर बताया था कि उत्पादन-सम्बन्धों का पूर्ण योग आर्थिक संरचना है। इस आर्थिक संरचना का साहित्यिक दर्शन, राजनीति, कानून कला आदि घटकों से जो भी सम्बन्ध है, वह अधिरचना के अन्तर्गत ही समाविष्ट कर लिया जाता है। अधिरचना के ये सभी घटक आर्थिक बुनियाद से चिपके हुए नहीं हैं।’ एंगेल्स द्वारा शिमट के नाम लिखे गये पत्र के आधार पर रामविलास जी ने यह निष्कर्ष निकाला है कि “कानून की तुलना में धर्म, दर्शन इत्यादि हवा में और भी ऊंचे उड़ते हैं। अधिरचना के कुछ घटक ज्यादा ऊंचाई पर हैं, कुछ कम ऊंचाई पर उससे चिपका हुआ एक भी घटक नहीं है।” रामविलास शर्मा ने इसे और स्पष्ट करते हुए लिखा है—“यात्रिक भौतिकवाद के लिए अधिरचना मानवसंस्कृति आर्थिक बुनियाद का प्रतिबिम्ब मात्र है। प्रतिबिम्ब की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं होती।...द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के लिए अधिरचना के घटक आर्थिक बुनियाद से कम ज्यादा दूरी पर तो हैं ही, वे बुनियाद के एक जैसे प्रतिबिम्ब नहीं है, सापेक्ष रूप में उनका स्वतंत्र अस्तित्व भी है। इस कारण ने आर्थिक बुनियाद को प्रभावित करते हैं और एक-दूसरे को भी प्रभावित करते हैं।”

चन्द्रबली सिंह ने इसी विषय पर अफानास्टोव को उद्धृत किया है। “किसी निश्चित वर्ग के राजनीतिक, कानूनी, नैतिक कलात्मक तथा अन्य दृष्टिकोणों और विचारों का सम्पूर्ण योग ही उसकी विचारधारा है।” इस प्रश्न पर रेमण्ड विलियम्स के माध्यम से ‘साहित्य का समाजशास्त्र’ नामक लेख में ‘विलियम्स की कल्चर एण्ड सोसाइटी’ ‘त्यांग रेवेव्यलेशन’ पस्तकों की व्याख्या

और विश्लेषण करते हुए नामवर जी ‘आधार’ की व्याख्या ‘प्रक्रिया’ के रूप में अर्थात् इन दोनों (आधार, अधिरचना) को समग्र प्रक्रिया के रूप में देखा जाय। समग्र उत्पादन की प्रक्रिया को एक ‘समग्रता’ में देखा जाय। उन्होंने संकेत विधा की प्रासंगिकता की चर्चा की। अर्थात् मानव समाज में जितने पदार्थ हैं सब संकेत हैं।...प्रत्येक वस्तु कोई न कोई अर्थ ग्रहण करती है।...इस सोसियोलोजी के अनुसार भाषा एक पदार्थ है। इसीलिए कविता में वह सारी चीज़ें उसके दृश्यगुण, उसका श्रव्यगुण, ऐन्द्रिय बोध निहित होता है। क्योंकि लैंग्वेज जो है एक मैटीरियल कोर्स होता है...उसमें प्रोडक्टिव पावर होता है। इसे और स्पष्ट रूप से रे. वि. के लेख के अनुवाद द्वारा ‘संकट के बावजूद’ पुस्तक में मैनेजर पाण्डेय ने रेमण्ड विलियम्स द्वारा लिखित ‘संस्कृति के मार्क्सिय सिद्धान्त के आधार और ऊपरी ढांचे की सार्थकता’ लेख का अनुवाद कर इसे और सुलझा कर बोधगम्य बनाया है। (1)(निर्धारक आधार और निर्धारित ऊपरी ढांचे की स्थापना)।

इसके अनुसार चेतना अपने सामाजिक परिवेश से निर्धारित होती है...फिर भी मार्क्स से मार्क्सवाद की यात्रा में स्वयं मार्क्सवाद के मुख्य स्वरूप के विकास में ‘निर्धारित’ ऊपरी ढांचे की स्थापना संस्कृति के मार्क्सवादी विश्लेषण का सामान्यतः मूल सिद्धान्त माना गया है।

## (2) आधार और उत्पादक शक्तियां

(आधार) को...एक प्रक्रिया के रूप में समझते हैं न कि एक निश्चित अवस्था के रूप में।

हमें निर्धारण को...सीमा निर्धारक और दिशा-निर्धारक अर्थ में समझना होगा।

...हमें ऊपरी ढांचे को...सांस्कृतिक व्यवहारों से सम्बद्ध क्षेत्र के रूप में समझना होगा।...उसे वास्तविक सामाजिक तथा आर्थिक संबंधों में सक्रिय मनुष्यों की ऐसी विशिष्ट क्रियाशीलता के रूप में समझना होगा जहां मूलभूत अन्तर्विरोधों और परिवर्तन के साथ-साथ एक गतिशील प्रक्रिया क्रियाशील होती है।

(3) समग्रता की धारणा और उपयोगिता

रे. वि. ने यह प्रश्न उठाया है और उसका उत्तर देते हुए लिखा है कि “...सामाजिक उपकरणों तथा राजनीतिक एवं विचारधारा सम्बन्धी गतिविधियों और निर्मितियों के अगर हम ऊपरी ढांचे की अवधारणा के माध्यम से न समझें तो वास्तविकता की सही पहचान कर ही नहीं सकते।”

(4) वर्चस्व की अवधारणा

...किसी भी समाज के एक काल विशेष में व्यवहारों, मूल्यों और अभिप्रायों की एक केन्द्रीय पद्धति होती है। जिसे प्रभुत्वशाली और प्रभावकारी कहा जा सकता है। ..मेरा आशय मूल्यों और अर्थों की ऐसी केन्द्रीय प्रभावकारी और प्रमुख पद्धति से है जो...संगठित और सामाजिक जीवन का हिस्सा है।

...वास्तव में साहित्य अपनी अधिकांश विशेषताओं जैसे कि मूल्यों और अर्थों को व्यक्त करने की चरितार्थ करने और निर्मित करने की अपनी शक्ति या सामान्य सत्त्यों को एक विशेष। रूप में सृजित करने की क्षमता के माध्यम से ही अपने प्रभावकारी कार्य को शक्ति के साथ पूरा करता है।

(5)“... हमें किसी व्यवहार के स्वरूप का अनुसंधान करना होगा तब उसकी शर्तों की खोज करनी होगी।

(6) उच्चकोटि की स्वतंत्रता

“...जहां चुनाव करने की स्वतंत्रता होती है। आप के व्यक्तित्व के निर्माण और लेखन की संभावनाओं को समझने पर जो वास्तविक दबाव होते हैं, उनको बदलने के प्रयत्न के चुनाव को स्वतंत्रता में वास्तविक स्वतंत्रता निहित होती है।”

डॉ. साहब की दृष्टि-पद्धति इतिहास में रहकर इतिहास के अतिक्रमण की रूपान्तरण की प्रक्रिया की ओर इंगित करती है। अज्ञेय सम्प्रेषण की बातें करते हैं परन्तु उनका सम्प्रेषण एक मनःस्थिति विशेष के भाषिक संगठन का विषय है। वह यह नकार जाते हैं कि सम्प्रेषण तो किसी अन्तर्वस्तु का ही होता है।

यह नंगी सच्चाई शापमय वर है समाजवादी देशों का मॉडल ध्वस्त हो गया। इसी रौ में यह भी कहा जाने लगा है कि ‘इतिहास का अन्त हो गया’ विचारधारा मिथ्याभासी है’ परन्तु इसे यूँ समझा जा सकता है कि क्रान्ति के बाद उस मॉडल, रूप, संरचना में इतिहास की आवश्यकता का द्वन्द्व था। अन्तर्विरोधों की गति ने इतिहास दर्शन का अनुसरण किया। वाल्टेयर ने सांप के रूपक में तत्व, रूप, आभास की व्याख्या इस रूपक में भरी है। उनके चिंतन में सांप ‘तत्त्व’ और ‘रूप’ की इकाई है। सांप केंचुल छोड़ता है और रेंग कर वह स्थान छोड़ देता है। परन्तु केंचुल ‘रूप’ नहीं ‘रूप’ का ‘आभास’ मात्र होता है। इसी तरह व्यवस्था ढह गयी। केंचुल रह गया। ध्यान रहे उस व्यवस्था में इतिहास गर्भ में रूपान्तरणशील नवीनता की उन्होंने उपेक्षा की।

हमने कहीं पढ़ा है कि अमरीका में 3 प्रतिशत लोग ही खेती कर 97 प्रतिशत का पेट भर सकते हैं। इस प्रकार वैज्ञानिक दृष्टि ‘ऐन्द्रिक बोध और अनुभव प्रत्यक्ष को निरन्तर जटिल रूप में उपस्थित होते हुए संज्ञान के दर्जे तक पहुंचा सकी है। संभावना मानव क्रिया से नाभि-नाल बद्ध है। मार्क्सवाद सामाजिक संरचना के अस्तित्व और उसकी ऐतिहासिकता दोनों पर जोर देता है। संयुक्त राज में सूक्ष्म यांत्रिक मॉडल की उपयोगिता से कोई इनकार नहीं कर सकता। परन्तु हमें यह ध्यान में रखना होगा कि विज्ञान कोई यह ध्यान रखना होगा कि विज्ञान का कोई प्रयोग हित निरपेक्ष नहीं होता उसे किसी न किसी वर्ग-हित से जोड़ दिया जाता है। यह भी सच है कि विज्ञान और तकनालोजी विश्व इस दिशा में प्रयत्नशील है कि जीवन के उत्पादन और पुनरुत्पादन की ग्लोबल अवस्थाएं सर्व शक्तिशाली बन जाएं। वित्तीय पूंजी के इस साम्राज्यवादी दौर में हमें जड़ सूत्रता से भी संघर्ष करते हुए, नए सिरे से, द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी पद्धति के सृजनशील अंकुरण का सन्धान करना होगा। परन्तु इस चकाचौंध में हमें यह भी स्मरण रखना होगा।

लेनिन से 'राज्यसत्ता और क्रान्ति' नामक पुस्तक में लिखा है—“‘धन’ की सर्वशक्तिमत्ता एक जनवादी गणतंत्र में ज्यादा कारगर इसीलिए होती है कि वह पूंजीवाद के निकम्मे राजनीतिक खोल पर निर्भर नहीं रहती। जनवादी गणतंत्र ही पूंजीवाद के लिए सर्वश्रेष्ठ राजनीतिक खोल है, और इसलिए इस सर्वश्रेष्ठ खोल पर निर्भर नहीं रहती।...और इसलिए इस सर्वश्रेष्ठ खोल पर एक बार अधिकार कर लेने के बाद...पूँजी अपनी ताकत को इतनी मजबूती से, इतनी दृढ़ता से जमा लेती है कि फिर उस पूंजीवादी जनवादी गणतंत्र में व्यक्तियों, संस्थाओं या पार्टियों की कोई भी अदला-बदली उस ताकत को नहीं हिला सकती।” एंगेल्स को उद्धृत करते हुए लेनिन ने लिखा “एंगेल्स इस बात पर बार-बार जोर देते हैं कि न केवल एक राजतंत्र के अन्दर बल्कि जनवादी गणतंत्र के अन्दर भी, राज्यसत्ता, राज्यसत्ता रहती है, अर्थात् अपने ‘अफसरों’, समाज के सेवकों ‘अपनी संस्थाओं’ को समाज का ‘स्वामी’ बना देने की उसकी बुनियादी विशेषता कायम रहती है।” (राज्यसत्ता और क्रान्ति)

‘विज्ञान हमेशा सारी प्रक्रियाओं और घटनाओं में पुनरावर्ती किसी न किसी सामान्य स्थायी चीज़ का अध्ययन करता है। द्वन्द्ववाद ‘नूतन की गुणात्मक विशिष्टता’ तथा ‘पुरातन के प्रति उसके द्वन्द्वात्मक विरोध’ को सामने लाता है। द्वन्द्ववाद को हर्जेन ने ‘क्रान्ति का बीजगणित’ कहा है।

‘संकल्पना’ या ‘विचार’ संवेद प्रदत्त ज्ञान का अधिक जटिल रूप है। ‘संकल्पनाएं’ मनुष्य के ज्ञान, उसके जीवन के अनुभव, कार्यों की किस्म, आवश्यकताओं तथा अनुभूतियों से प्रभावित होती हैं। वे हमें मूर्त वस्तुओं तथा घटनाओं के सामान्य अनुगुणों की जानकारी देती हैं।...संकल्पनाएं आधुनिक विज्ञान में बड़ी भूमिका

निभा रही है।

इसीलिए डॉ. नामवर सिंह ने संज्ञान-प्रक्रिया और रचनात्मकता को ध्यान में रखते हुए लिखा—“इसलिए हिन्दी आलोचना के सामने कविता-कहानियों की व्याख्या का अर्थ तो बाद में आएगा पहले तो वे मजबूत साम्राज्यवादी साहित्यिक विचारधाराएं, जो बन रही हैं, हथियार तैयार हो रहे हैं, उन विचारधाराओं, प्रवृत्तियों का उतनी ही मजबूती से जवाब देना है—एक सशक्त थियरी द्वारा।”

यह ध्रुव सत्य है कि लोग नए मूल्यों का उपयोग तो करते हैं लेकिन एक लम्बे संघर्ष और यातनादायी झेलने वाली पीड़ा के परिणामस्वरूप जो ये मूल्य अर्जित किये गये हैं उस कष्टप्रद प्रक्रिया में आत्माहुति देने वाले कत्ताओं को भलने और भलवाने की सचेत चेष्टा भी करते हैं।

मैं डॉ. नामवर सिंह के प्रति श्रद्धांजलि उन्हीं की पंक्तियों द्वारा अर्पित कर रहा हूँ। “मुझे निराला की अन्तिम कविता की वह पंक्ति याद आती है जो कवियों को भी सम्बोधित मानी जा सकती है ‘पत्रोत्कटित जीवन का विष बुझा हुआ है।’” फिर इस गीत की यह पंक्ति है—‘ताक रहा है भीष्मशरों की कठिन सेज पर/ निराला इसके बाद कविता के सन्दर्भ में कहते हैं ‘बीत चुका है दिक्चुम्बिक चतुरंग। काव्य गतियति वाला; ध्वनि अलंकार रस/ रागबंध के वाद्यछन्द के/ रणित गणित छूट चुके हाथ से/ क्रीड़ाएं ग्रीष्म में परिणत।’ मुझे लगता है, आज भी निराला उन कठिनशर की सेज पर लेटे हुए भीष्म के समान इस पूरी पीढ़ी को देख रहे हैं। मुझे यहां निराला जी की तरह नामवर जी भी दीख रहे हैं। (पु. साहित्य की पहचान : ले. गहन है यह अन्धकारा प. 91-92)

संपर्क :- 6291598148

## पिक-प्रतिभा का स्वाभिमान नामवर सिंह!

पाण्डेय शशिभषण 'शीतांश'

नामवर जी से मेरी पहल मुलाकात 1964 के वर्षान्त में हुई थी। मैं उसी वर्ष भागलपुर विश्वविद्यालय सेवा में राजा देवकीनंदन और डॉयमंड जुबली कॉलेज में हिन्दी का प्राध्यापक नियुक्त हुआ था। नामवर जी हमारे कालेज में व्याख्यान देने आए थे। सुल्तानगंज कॉलेज के हिन्दी-प्राध्यापक खगेन्द्र ठाकुर उन्हें अपने साथ मुंगेर ले आए थे। उन दिनों नामवर सिंह राजकमल प्रकाशन के साहित्य-सलाहकार थे और बिहार के विश्वविद्यालयों की यात्रा पर थे। नामवर जी ने अपने व्याख्यान का शीर्षक अज्ञेय की कविता पुस्तक 'हरी घास पर क्षण भर' की तर्ज पर रखा था। यह व्याख्यान आम्रकूज के खुले परिवेश में हरी घास पर ही आयोजित किया गया था। नामवर जी का विषय था—'नई कविता पर क्षण भर' एक ओर नामवर जी, प्राचार्य कपिल और मंच-संचालक बैठे थे, दूसरी ओर दोनों किनारों में अध्यापक की कुर्सियाँ लगी थीं और सामने हिन्दी के छात्र बैठे थे। नामवर जी ने कुल 35-40 मिनटों का व्याख्यान दिया था। प्रश्न भी आमंत्रित किये गए थे, पर श्रोताओं में से किसी ने न कोई जिज्ञासा की और न कोई प्रश्न ही किया। वहाँ से जब हम लोग लौटे तब छात्र अपनी कक्षाओं में चले गए और नामवर जी को प्राचार्य तथा हिन्दी-विभाग के प्राध्यापकों के साथ प्राचार्य-कक्ष की ओर लाया गया।

प्राचार्य-कक्ष में आये, उस कक्ष में आने के साथ ही उनका स्वागत किया गया। फिर हम परीक्षा-नियंत्रण के कक्ष में बैठे। हमारे सामने प्लेट में स्नेक्स और चाय के प्याले थे। हम लोग आस-पास ही बैठे थे। वहाँ मैंने नामवर सिंह से उनके व्याख्यान पर एक प्रश्न भी किया था जो उनके कथन के अन्तर्विरोध पर था। पर नामवर जी ने एक-दो वाक्यों में चलता-सा उत्तर देकर मौनधारण कर लिया।

मैंने एम. ए. करते समय नामवर जी की एक-दो पुस्तक को चलती तौर पर देखा था। आदिकाल के संदर्भ में उनके छपे हुए एम. ए. और पीएच. डी. के विनिबंध (Dissertation) प्रबंध 'पृथ्वीराज रासो की भाषा' तथा 'अपभ्रंश का हिन्दी पर प्रभाव' जैसी परीक्षोपयोगी पुस्तकों को देखा-पढ़ा था। छायावाद पर मेरे सामने शंभूनाथ सिंह, नंदकिशोर देवराज जैसे लोगों की महत्वपूर्ण पुस्तकें थीं। चलते दंग से नामवर सिंह की 'छायावाद' पुस्तक भी देखी थी। निबंध-पत्र की तैयारी के सिलसिले में उनकी 'हिन्दी काव्य की प्रवृत्तियों', पुस्तक भी देख गया था। मैंने 1936 में एम. ए. किया था और तब तक नामवर आलोचक के रूप में स्थापित नहीं हुए थे। मार्क्सवादी आलोचकों में

रामविलास शर्मा के अतिरिक्त प्रकाशचन्द्र गुप्त और शिवदान सिंह चौहान के नाम अधिक प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे।

नामवर जी हजारी प्रसाद द्विवेदी के प्रिय शिष्य थे। बी.एच.यू. से एम. ए. करने के बाद वहीं हिन्दी प्राध्यापक बनने का सौभाग्य उन्हें मिला। पर द्विवेदी जी के विरुद्ध उस विश्वविद्यालय में जब कुचक्र चला और उन्हें विश्वविद्यालय से हटा दिया गया, तब नामवर सिंह को भी पदच्युत कर दिया गया। फिर द्विवेदी जी की ही सिफारिश पर नामवर सागर विश्वविद्यालय में हिन्दी प्राध्यापक बने। पर वहाँ भी किसी कारण से विभाग और विश्वविद्यालय से निष्कासित कर दिये गये। उसके बाद का समय नामवर जी के लिए आर्थिक दृष्टि से काफी कष्टकर रहा। वह साम्यवादी (CPI) पार्टी के एक साप्ताहिक का संपादन किया करते थे। बाद में शीला संधू के राजकमल प्रकाशन में साहित्य-सलाहकार के रूप में काम करने लगे। उन दिनों वह विभिन्न विश्वविद्यालयों की यात्रा किया करते थे तथा अच्छे स्तरीय प्रकाशन के उपयुक्त प्राध्यापकों की पांडुलिपियाँ लाया करते थे। साथ ही राजकमल से छपी पाठ्यपुस्तकों को विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में लगाने के लिए बोर्ड के सदस्यों से औचित्यपूर्ण सिफारिश किया करते थे। इसके पूर्व के नामवर सिंह के बिल्कुल निष्क्रिय रहने के समय का उल्लेख काशीनाथ सिंह ने अपने संस्मरणों में किया है।

साठ के दशक में नामवर सिंह 'नयी कहानी' के आलोचक के रूप में उभरे। तब उन्होंने बड़े कथा-विवेक के साथ धारावाहिक रूप में नयी कहानियों पर लिखा तथा पहले की कहानी से नई कहानी को अलगाया। भावुकता से बौद्धिक और आदर्श से यथार्थ को अलगाते हुए बदलते मूल्यों के संदर्भ को रेखांकित किया। उन्होंने कहानी की आलोचना को कथा-तत्त्वों के चौखटे से निकालकर उसकी सार्थकता और साभिप्रायता के प्रश्न खड़े किये तथा उसके अंतर्गर्भी अन्वेषण की ओर

कहानी के आलोचकों और पाठकों का ध्यान आकर्षित किया। कुछ (एक-दो) संक्षिप्त उदाहरणों के सहारे अपने मंतव्य और नयी कहानी के गंतव्य को स्पष्ट करने का प्रयास भी किया। उन्हीं दिनों देवीशंकर अवस्थी भी नई कहानी के आलोचक के रूप में उभरे थे। इस तरह नामवर जी ने कहानी की रूढ़ालोचन-प्रक्रिया से कहानी की सार्थक आलोचना को अलगाने और स्वरूपित करने में अपना सार्थक योगदान किया। पर उन्होंने किसी भी नई कहानी की अपनी संदृष्टि के अनुरूप कोई नई सारगर्भित और सार्थक आलोचना नहीं की। यहीं उन्होंने अन्य महत्वपूर्ण नये कहानीकारों के रहते हुए भी निर्मल वर्मा को हिन्दी का पहला नया कहानीकार घोषित किया। पर 'परिंदे' की आलोचना करते हुए भी वह उसकी सारगर्भित गहराई में नहीं जा सके और उसकी भाषाशैली की विशेषताओं को भी बिल्कुल विलोम रूप में प्रस्तुत कर दिया। जो वहाँ था उसकी तो उन्होंने उपेक्षा कर दी और जो वहाँ नहीं था, उसे उन्होंने अपनी प्रतिभा(?) से साकार और मर्त कर दिया।

नामवर सिंह ने जब निर्मल वर्मा की 'परिन्दे' कृति की समीक्षा की तब उसके संदर्भ में यह भी लिखा—“उनका गद्य शुद्ध गद्य है-ठेठ वाचक शब्द, विशेषणाहीन संज्ञाएँ, उपमारहित पद तथा स्वतंत्र वाक्य” (कहानी नयी कहानी, पृष्ठ 74-75) यह भी नामवर जी की 'तैराकी' की गलत कला का ही नमूना है, भरसक एक चमत्कारी प्रभाव छोड़ने वाला बयान! इसके विपरीत शिवप्रसाद सिंह ने निर्मल की भाषा में कलाकारी सलवटें दिखाते हुए उसके दो प्रकार के भाषिक प्रयोग को रेखांकित किया। एक कवित्वपूर्ण भाषा और दूसरे, अंग्रेजी के विशिष्ट प्रयोगों का स्वीकरण। उनके अनुसार निर्मल की कवित्वपूर्ण भाषा में उपमा भी है और विशेषण भी, साथ ही निर्मल ने छायावाद के परिचित चेहरे वाले प्रयोगों को अनेकशः अपनाया है। उन्होंने 'जलती झाड़ी' और 'वे दिन' जैसी कृतियों की भाषा



से अनेक प्रमाण भी दिये हैं। (द्रष्टव्य: आधुनिक परिवेश और नवलेखन, पृ. 201-2) पर नामवर जी ने जिस 'परिन्दे' संकलन की 'परिन्दे' और अन्य कहानियों के संदर्भ में विशेषणहीन संज्ञाओं और 'उपमारहित पदों' की चर्चा की है उस 'परिन्दे' कहानी से भी कुछ उदाहरण देख लेने योग्य हैं। 'परिन्दे' कहानी का आरंभ विशेषणयुक्त संज्ञाओं-अंधेरे गलियारे से होता है। यही नहीं, इस कहानी का समापन भी विशेषणयुक्त संज्ञाओं से ही होता है—'सोता हुआ चेहरा', 'हल्का-सा धक्का', 'फीका आलोक' और 'नीला लिफाफा'। पूरी कहानी में अनेक बार विशेषणयुक्त संज्ञाएँ आयी हैं—विशेष्य संबंध को दर्शाने वाली संज्ञाएँ। कोई भी पाठक 'परिन्दे' का मुआइना कर सकता है। वहाँ 'झपकती लौ' है, 'हल्की-सी झिड़की' है, 'पीला मध्यम प्रकाश' है, 'परिचित चेहरे' हैं, 'नीली तहें' है, 'हल्का-सा आभास' है, 'फैली हुई धुंध' है, 'थोड़ी दबी हुई नाक' है, 'छोटी-छोटी चंचल आँखें' है, 'छोटे-से पहाड़ी शहर' है, 'सूखी, बुझी हुई हँसी' है, 'लम्बी-चौड़ी स्कीम' है, 'फीकी रोशनी' है, 'घनी नीरवता' है, दूर-दूर तक फैली पहाड़ियाँ हैं, 'स्पेशल सर्विस' है, 'स्वाँप्निल उर्मियाँ' हैं, 'अनजान देश' है, 'चमकीले लट्टुओं' है, 'विचित्र शहरों' है, 'खोखला मोह' है, 'बचकाना हरकत' है 'झूलती हुई मांसपेशियाँ' हैं, 'फीकी-सी चाँदनी' है, 'हरा प्रकाश' है, 'सूखी, सर्द हँसी' है, 'खोखली-सी शून्यता' है, 'कल्यै रंग' है, 'मूक, निरीह याचना' है, 'कँपकाँपते जाड़े' हैं, 'गदोले सोफे' हैं, 'मेघाच्छन्न आकाश' है, 'भारी, खुरदुरी आवाज़' है, 'घने बाल' हैं, 'पीली उँगलियाँ' हैं, 'मुलायम धूप' है, 'महीनी, चमकीली रेखा' है, 'परिचित मर्मर' है, 'अनजानी दिशा' है, 'फीका-सा अँधेरा' है, 'धूमिल आलोक' है, 'पगली-सी स्मृति' है, 'एक उद्भ्रान्त भावना' है, 'पहाड़ी सूखी हवा' है, 'चौड़े, उठे हुए सबल कन्धे' हैं, 'छोटी-सी बिन्दी' है, 'उड़ते हुए बाल' है, 'ध्यानमग्न प्रस्तर-मूर्ति' है, 'नीली धुंध' है, 'भूला-सा अर्थ' है, 'छोटी-सी मौत' है, 'काँपती छाया' है, बची-खची गँज

है, 'रंग-बिरंगे रिवन' है, 'सफेद पेटियाँ' हैं, 'आसमानी रंग' है, 'पका, गेहुआँ रंग' है, 'हल्का-सा गुलाबी' रंग है, 'उड़ते हुए बादल' है, 'भयाकुल दृष्टि' है, 'अनर्गल प्रलाप' है, 'झूलते हुए पत्थर' हैं, 'अधजली टहनियाँ' हैं, 'भूला-भटका झोंका' है, 'गहरी नींद' है, 'उद्भ्रान्त, उखड़ी-सी आँखें' है, 'अनिर्वचनीय सुख' है, 'उमड़ता ज्वार' है, 'बहका-सा पागल क्षण' है, 'अधमिटे नाम' है, 'निस्तब्ध, निरीह भाव' है, 'नाटकीय मुद्रा' है, 'थकी-सी ढीली-ढीली मुस्कुराहट' है, 'मद्धिम रोशनी' है, 'धूमिल आकश' है, 'अजनबी, अनजाने देश' है, 'भुतैले स्वर' है, 'फीका आलोक' है, 'काँपते पर्दे' हैं, चारो ओर फैली निस्तब्धता आदि हैं। ये सभी विशेषण-विशेष्य पद हैं। आश्चर्य होता है कि नामवर ने इन्हें कैसे नजरअन्दाज कर दिया? इसी प्रकार नामवरजी ने 'परिन्दे' में जिस उपमारहित पदों की बात की है, पर्यवेक्षित तथ्य उसके सर्वथा विपरीत हैं। इस एक कहानी में केवल उपमा-मलक पदों का एक दर्जन बार प्रयोग हुआ है—

1. उसे लगा कि उसकी टाँगें बाँस की लकड़ियों की तरह उसके शरीर से बँधी हैं...
2. उसके चेहरे का पीलापन ताँबे के रंग जैसा हो गया था।
3. धागे में बँधे चमकीले लट्टुओं की तरह वे एक लम्बी टेढ़ी-मेढ़ी कतार में उड़े जाते हैं।
4. जो छाया-सी उस पर मँडराती रहती है...
5. केवल चैपल का क्रास धुंध के पर्दे पर एक-दूसरे को काटती हर्ड पेंसिल की रेखाओं-सा दिखाई दे जाता था।
6. आँखें मूँदे ध्यानमग्न प्रस्तर-मूर्ति सी वह स्थिर, निश्चल खड़ी थी।
7. प्यानों की संगीत के सुर के धुई-मुई रेशों की भाँति अब तक उसके मस्तिष्क की थकी-माँदी नसों पर फडफड़ा रहे थे।
8. नीचे चलते हुए आदमी चाबी-भरे खिलौने-से लगते थे।

9. एक-एक मकान ताश के पत्तों की तरह गिरता जाता है।

10. बिछे हुए खेत भागती हई गिलहरियों-से लग रहे थे।

11. उनमें एक भयभीत बच्चे की-सी कातरता झलक रही थी।

12. ...हमेशा जोंक की तरह उससे चिपटे-रहना-यह भी गलत है।

इसके अतिरिक्त इसमें 'रूपक' और 'उत्प्रेक्षा' के तथा 'मानवीकरण' के भी अनेकशः प्रयोग मिलते हैं। वाक्य भी स्वतंत्र न होकर लम्बे-लम्बे आश्रित विधान वाले हैं। ये सारी स्थितियाँ 'परिन्दे' की भाषा के बारे में नामवर के दावे को काटती हैं।

नामवर पहले कविता के आलोचक थे। चाहे पृथ्वीराज रासो का भाषा-विमर्श हो, चाहे कविता की प्रवृत्तियों का विवेचन हो, चाहे छायावादी काव्य की मीमांसा हो, वे कविता के आलोचक के रूप में ही पहचानने जा रहे थे, यद्यपि यहाँ उनका कोई मौलिक प्रदेय नहीं था। पर अचानक कविता से कहानी की ओर उन्होंने 'शिफ्ट' किया। नामवर जी स्वयं आलोचक के रूप में साहित्यकार की मूल्य-मीमांसा करने के कर्म में यह लगातार कहते रहे कि केवल 'शिफ्ट' से बात नहीं बनती, देखना यह पड़ता है कि उस शिफ्ट ने 'ग्रोथ' का प्रमाण दिया है कि नहीं। यदि उन्हीं की इस कसौटी को ले, तो नामवर सिंह की इस 'शिफ्ट' में 'ग्रोथ' के लक्षण सामने आये और दिखे। इसलिए मैं मानता हूँ कि नामवर की आलोचकीय प्रतिभा मूलतः कथालोचन में निखरी और आलोचक के रूप में उन्होंने यहाँ सफलता और प्रतिष्ठा प्राप्त की।

नामवर सिंह के आलोचनात्मक लेखन में फिर से 'शिफ्ट' आया। नही कहानी के आलोचक के रूप में प्रतिष्ठित होकर वे सम्पूर्णतः कहानी के आलोचक के रूप में अपना विकास नहीं कर सके और फिर से कविता की ओर 'शिफ्ट' कर गए। अब जो उन्होंने

पुस्तक लिखी वह किसी रूप में साहित्य अकादमी पुरस्कार के प्रलोभनात्मक दबाव में लिखी गई थी, किस रूप में पुरस्कृत की गयी थी, इसका कच्चा चिट्ठा निर्मला जैन ने 'बहुवचन' (वर्धा) के 'नामवर विशेषांक' में प्रस्तुत किया है। यहाँ 'नई आलोचना' के द्वारा स्थापित और पश्चिमी काव्य-जगत में चर्चित 'तनाव', 'विडंबना', 'विरोधाभास' तथा 'बिम्ब' को लेकर उन्होंने विचार किया और हिन्दी कविताओं में उसकी दृष्टान्तरपरक संघटना स्पष्ट की। मुक्तिबोध की 'अंधेरे में' कविता पर उन्होंने एक लम्बा, आलेख लिखा, पर जब चंचल चौहान ने 'अंधेरे में' विषयक उनकी मान्यता का यथोचित खंडन किया, तब नामवर सिंह की भावयित्री प्रतिभा यह नहीं समझ पाई कि उनकी मान्यता और चंचल चौहान की मान्यता एक ही सिक्के के दो पहलू हैं और इसे उद्घाटित नहीं कर सकने की अक्षमता में उन्होंने एक लम्बा-सा 'रिजर्वाइडर' 'पुनश्चः' के रूप में उसके दूसरे संस्करण में लिख डाला।

मुद्दा था 'आईडेंटिटी' की तलाश बनाम उसके 'लैस अँव आईडेंटिटी' का मध्यवर्गीय अस्मिता के परित्याग (लॉस अँव आईडेंटिटी) के बाद ही सर्वहारा की अस्मिता (आईडेंटिटी की तलाश) प्राप्त की जा सकती है। पर इसे वह नहीं समझ सके। इस पुस्तक में उन्होंने काव्यभाषा की सर्जनात्मकता पर भी विचार किया पर इसपर उनसे पहले डॉक्टर देवराज और अज्ञेय ने बहुत सार्थक रूप में काव्यभाषा की सर्जनात्मकता पर भी विचार किया था और उस पर अपने-अपने चिंतनात्मक आलेख भी प्रस्तुत किये थे। विजयदेव नारायण साही का भी काव्यभाषिक चिंतन नामवर की इस पुस्तक से पहले चर्चित हो चुका था। नामवर ने इस पुस्तक में काव्यभाषा की सर्जनात्मकता को लेकर बार-बार इनमें से केवल साही को उद्धृत किया तथा देवराज और अज्ञेय के चिंतन की उपेक्षा की, साथ ही वह अपनी कोई मौलिक बात यहाँ नहीं रख सके। कविता के नये प्रतिमान को तलाशते समय पश्चिमी प्रतिमानों का

स्वरूपगत और संघटनात्मक परिचय तो उन्होंने अवश्य दे दिया, पर किसी भी प्रतिमान के आधार पर किसी भी कविता की सार्थकता दिखाने की ओर उनकी दृष्टि नहीं जा सकी, जो काव्यालोचन की एक बुनियादी अपेक्षा है। रामविलास शर्मा ने उनकी इस पुस्तक की बड़ी तीखी आलोचना की और नामवर सिंह की एक-एक असंगति को उजागर कर दिखाया। अपनी 'वाद, विवाद और संवाद' पुस्तक की भूमिका में जब उन्होंने यह लिखा कि 'कविता भाषा का ही खेल है और कुछ नहीं', तो इससे अज्ञेय की उस स्थापना का ही सम्पोषण हुआ कि कविता आरंभ में शब्द है और अंत में भी यही बात शेष रह जाती है या कि कविता शब्द से बनती है और विचार भाषा में बनते हैं। पर अज्ञेय के विचारों से प्रभावित होकर भी नामवर अज्ञेय के उल्लेख से अपने को लगातार बचाते रहे। प्रतिमान वाली पुस्तक पर उन्हें साहित्य अकादमी सम्मान तो प्राप्त हुआ, पर कथा से कविता की ओर शिफ्ट दिखाने वाली उनकी यह पुस्तक अपना ग्रोथ नहीं दिखा सकी। पता नहीं, उन्होंने अपनी इस विफलता का कभी आत्मविश्लेषण और आत्म-निरीक्षण किया भी या नहीं? और ऐसी कोई अनुगूँज उनके कानों में पंत की इस काव्य-पंक्ति की सुर-लय में सुनाई पड़ी भी या नहीं—“मनन कर मनन, शकुनि. नादान?/ न पिक-प्रतिभा पर कर अभिमान।”

नामवर जी ने एक और विवादस्पद पुस्तक लिखी—‘दूसरी परंपरा की खोज’। निश्चय ही इसके शीर्षक का अभिप्रेत हिन्दी-काव्य की दूसरी काव्य-परंपरा से था। अथवा काव्य में निरूपित दूसरी भारतीय परंपरा से था यानी यहाँ उनका बल सामासिक संस्कृति की एकता पर न होकर परंपरा को अलगाने पर था जो अपने-आप में एक वितथ था और है। ‘फार्स’ था और है। परंपरा में अनेक धाराएं मिलकर एकात्म होती हैं। यही भारतीय परम्परा है। पर इन्हें परंपरा को जोड़ने वाली संगम की सरस्वती नहीं दिखी और इन्होंने भारत

की समकालीनता में रामचन्द्र शुक्ल से हजारी प्रसाद द्विवेदी को बड़ा बनाने का एक कुचक्री वाग़ल से भरा साहित्यिक कुप्रयास किया। इस पुस्तक के लेखन के लिए उन्होंने जे. एन. यू. से ‘सेबेटिकल लीव’ ली और द्विवेदी जी के कद को शुक्ल जी के कद को काटते हुए बड़ा बना दिया। वे अपने गुरु से इतनी भी दीक्षा नहीं पा सके कि द्विवेदी जी जहाँ शुक्ल जी से असहमत होते हैं, वहाँ बिना उनका निषेध किए अपनी बात विधेयात्मकता में कह डालते हैं, पर नामवर जी को अपनी तथाकथित यशस्विता से और अधिक ख्याति चाहिए थी। सो उन्हें गुरु की यह लेखन-प्रकृति भी अनुगम्य नहीं लगी। स्मरणीय है कि इस पुस्तक की भी कटु आलोचना रामविलास शर्मा ने की और उस आलोचना में इनकी ‘छीछालेदर’ तो हुई ही, पर रामविलास जी इनके गुरु पर भी आक्रमक हुए और शुक्ल जी के इतिहास की पचासों पंक्तियों की उनके इतिहास में किये गए चौरकर्म का सोदारहण प्रमाण प्रस्तुत कर दिया। भले ही वह चौरकर्म द्विवेदी जी के नाम पर बट्टा लगाने उनपर ‘व्योमकेश दरवेश’ लिखने वाले और उनके कछ अन्य सहशोधार्थियों का ही क्यों न रहा हो।

नामवर जी की प्रकृति लेखन से अधिक वक्तृत्व-कला की रही है। आलोचना की ज़मीन से नहीं जुड़कर वे आलोचना में भी हवाई उड़ान भरते रहे और हवाई बयान देते रहे। उनके हवाई बयान ही संचित होकर संकलित हुए और पुस्तकाकार प्रकाशित भी हुए।

हिन्दी में पत्रिकाओं का संपादन भी संपादक के भाग्योदय का कारक सिद्ध हुआ है। इसके पहले उदाहरण तो नामवर सिंह ही हैं और दूसरे उदाहरण विश्वनाथ प्रसाद तिवारी। जब शिवदान सिंह चौहान ‘आलोचना’ पत्रिका के संपादक नहीं रहे, तब उसका संपादन-दायित्व नामवर सिंह को सौंपा गया। नामवर जी का कैरियर व्यवस्थित होने लगा था। वह जोधपुर विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में पहुँच गए थे। पर ‘आधा गाँव’

जैसी उपन्यास-कृति को एम. ए. के पाठ्यक्रम में लगाने के कारण जो विवाद बढ़ा, उससे उन्हें जोधपुर विश्वविद्यालय का हिन्दी विभाग भी छोड़ना पड़ा। नामवर जी का भाग्योदय जे.एन.यू. के साथ हुआ। नुरुल हसन इंदिरा सरकार में राज्य शिक्षामंत्री बने रहे। उनके मंत्रित्व-काल में नामवर सिंह को जे. एन. यू. में सीधे लेक्चरर से प्रोफेसर बना दिया गया। उसके बाद नामवर सिंह जी ने फिर कभी पीछे मुड़कर नहीं देखा। वे हिन्दी के एक-दो ऐसे प्राध्यापकों में रहे, जिसे व्याख्याता पद से सीधे ही विश्वविद्यालय के प्रोफेसर का पद प्राप्त हुआ। जे. एन. यू. में उन्होंने विभाग को बनाया, पूरे मार्क्सवादी शिविर की स्थापना की, विभाग में मार्क्सवादी अध्यापक लाए और गरीब हिन्दी-प्रदेशों से आने वाले एम. ए., एम. फिल, पीएच.डी. के विद्यार्थियों और शोधार्थियों को मार्क्सवादी विचारधारा में प्रशिक्षित-दीक्षित किया। ढेर-सारी सरकारी हिन्दी समितियों की अध्यक्षता या सदस्यता उन्हें प्राप्त हुई। वे हिन्दी में एक शक्ति-केन्द्र बनकर उभरे। पारितोषिक और सम्मान देने वाली समितियों के निर्णायक मंडल में प्रभुत्वशाली रहे। जिसे चाहा परस्कृत किया। जिसे चाहा निष्कासित किया।

पद-प्रभुता प्राप्त करने के साथ ही नामवर जी के प्रभामंडल से अनेक लोग जुड़े। उन्होंने स्वयं भी अनेक लोगों को अपने से जोड़ा। पर यह जुड़ाव प्रतिभा-मात्र पर केन्द्रित नहीं रहा। उन्होंने साहित्यिक ईमानदारी और योग्यता की जगह पोलीमिक्सिंग की। अपनी यादच्छिकता को महत्व दिया।

नामवर जी ने विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रमों में पुस्तकों को अनुशंसित करने के क्रम में परिवारवाद को महत्व दिया। 1987-89 के बीच के वर्षों में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने प्रत्येक विषय का एक अखिल भारतीय पाठ्यक्रम स्नातक और स्नातकोत्तर-दोनों ही स्तरों पर तैयार करने के लिए हर विषय की एक अखिल भारतीय पाठ्यक्रम समिति संघटित करायी

थी। हिन्दी की इस पाठ्यक्रम समिति के संयोजक-निदेशक डॉ. शिवप्रसाद सिंह(वाराणसी) थे और इसका केन्द्र काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का हिन्दी-विभाग था। उस समिति के एक माननीय सदस्य डॉ. नामवर सिंह भी थे। अन्य सदस्यों के साथ-साथ मैं भी उस समिति का एक सदस्य था। आरंभिक बैठकों में एम. ए. कक्षा के लिए आठ सौ की जगह दस सौ के पाठ्यक्रम बनाने का अर्थात् आठ पर्चों की जगह दस पर्चों के पाठ्यक्रम बनाने का निर्णय किया गया। जब एक-एक पर्चे के लिए पाठ्य-पुस्तकें निर्धारित करने की बात आई, तो हिन्दी कथा-साहित्य के पर्चे में नामवर जी का आग्रह बहुत खुलकर काशीनाथ सिंह और दूधनाथ सिंह विरचित पाठ्य-पुस्तकों को पाठ्यक्रम में लगाने के लिए मुखर हुआ। जब खुलकर ऐसा नहीं करने के लिए तर्क दिए गये और अधिकाधिक सदस्य इसी मत के निकले, तो नामवर जी ने सदस्यता से ही त्यागपत्र दे दिया और उस समिति से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया। इससे हम सदस्यों पर यही प्रभाव पड़ा कि वे समिति में अपनी यादृच्छिकता चलाना चाहते थे, मनचाहे रूप में निर्णय कराना चाहते थे और यदि इसमें उन्हें सफलता नहीं मिल रही थी, तो वह वहाँ त्यागपत्र देकर उस समिति से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर चले गये। जिस मंशा से यह समिति मानव संसाधन-विकास मंत्रालय द्वारा गठित की करायी गयी थी, उसके प्रति उन्होंने अपनी गहन-व्यापक निष्ठा और ईमानदारी का परिचय नहीं दिया।

नामवर सिंह स्वाध्यायी रहे हैं, साहित्य के जागरूक अध्येता रहे हैं। उन्हें साहित्य-संस्कार जन्मना प्राप्त रहा है। वह साहित्य-संवेदना से भी सम्पन्न रहे हैं। इस प्रकार साहित्य का सहृदयत्व उन्हें मिला, पर अपनी इस भावयित्री प्रतिभा के साथ वह कभी न्याय नहीं कर पाए। साहित्य-कृतियों के विषय में जब कहीं, जहाँ कहीं उन्होंने अपना अभिमत दिया वह उसके बीच तैराकी करते हुए ही दिया। कभी किसी साहित्य-कृति

की गोताखोरी उन्होंने नहीं की। उन्हें प्रकृतितः घनत्व-पूर्ण सान्द्र-मन्द्र आकर्षित करने वाली वाणी मिली। वाक्पटुता और वक्तृत्व-कला की कुशलता भी उन्हें प्राप्त हुई। बोलने के क्रम में उन्हें फ्लैशेज़ भी आते रहे। उन्हें यह दीप्त कौंध झलकती रही और वह श्रोताओं को मनोमुग्ध करते रहे, पर गहराई का सार्थक सार-तत्व उनके व्याख्यानों और लेखन में शायद ही कभी उपलब्ध हुआ हो। उन्होंने साहित्य की साधना नहीं की, साहित्य को इनजॉय भर किया, साहित्यरंजन-मात्र किया। पश्चिमी दार्शनिक मिली ने यह कहा था कि व्यक्तिवाचक संज्ञाएं गुणात्मक नहीं होती। पर नामवर जी ने इस कथन को मिथ्या सिद्ध किया। वह इसके अपवाद निकले और अपने नामवर नाम के अनुरूप ही उन्होंने हिन्दी साहित्य और विश्वविद्यालय परिवेश में नामवरी प्राप्त की, अपना कीर्ति-केतु फहराया। ऐसा सौभाग्य विरले व्यक्तियों को प्राप्त होता है।

नामवर जी जब जोधपुर विश्वविद्यालय में थे और 'आलोचना' पत्रिका के संपादक थे, तब मैंने उन्हें अपना एक तीस-पृष्ठीय टंकित आलेख 'आलोचना' में प्रकाशनार्थ भेजा था और उसी समय उसकी एक प्रति मैंने अज्ञेय जी को भी भेज दी थी, जो उन दिनों जोधपुर विश्वविद्यालय में ही तुलनात्मक भाषा-साहित्य विभाग के प्रोफेसर एवं अध्यक्ष थे। नामवर सिंह जी को भेजा गया मेरा वह आलेख अज्ञेय जी से ही जुड़ा था—'जयति बचन रचना अति नागर बनाम अज्ञेय की कथा-भाषा'। पर नामवर जी ने उसे आलोचना में नहीं छापा। उन्होंने इस महत्त्वपूर्ण आलेख की उपेक्षा की और अज्ञेय से विरोध रखने के कारण तथा मेरे गैर-मार्क्सवादी और शिविरमक्त लेखक होने के कारण भी इसे दाब दिया।

1974 में मेरी और नामवर जी की मुलाकात एक साक्षात्कार-समिति में हुई, जिसमें वह विशेष की कुर्सी पर (चयन समिति में) विराजमान थे और मैं अभ्यर्थी के रूप में उनके सामने यह रचना-चयन के प्रति उनकी

पर्वग्रस्त धारण का प्रमाण बनकर उपस्थित था। NCERT(नयी दिल्ली) में हिन्दी-विभाग के रीडर पद के लिए मैं साक्षात्कार दे रहा था। उनके साथ पधारे अन्य विशेषज्ञ थे—कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह तथा मलिक मोहम्मद। समिति के अध्यक्ष वहाँ के निर्देशक रईस अहमद थे। मेरा साक्षात्कार बहुत अच्छा हुआ था। मुझसे अधिकांश प्रश्न नामवर सिंह ने ही किए थे। उन्होंने शैलीविज्ञान पर मुझसे विस्तार से पूछा था और मैंने शैलीविज्ञान-विषयक अपनी अवधारणा से उन्हें परिचित कराया था। उन्होंने उन अंग्रेजी पुस्तकों के नाम पूछे थे जिन्हें मैंने पढ़ा था और मैंने उन्हें आधा-दर्जन पाश्चात्य शैलीविदों के नाम तथा ग्रन्थों के नाम बताए थे। इनमें सेमर चैटमैन, पी. एल. गार्विन, एन ई एक्विस्ट, जी. एन. नीच, टी. ई. सिबियोस, रोजर फाउलर आदि के नाम प्रमुख थे। उन्होंने मेरे उत्तर पर संतोष व्यक्त करते हुए सिर भी हिलाया था। संभवतः उन्होंने पहले स्थान पर मेरे नाम के चयन के लिए संस्तुति की थी, पर अन्य विशेषज्ञों ने वहाँ के हिन्दी विभाग के दो आंतरिक प्राध्यापकों के पचपन साल की वय-सीमा पार कर लेने और मेरी तैंतीस वर्ष की अवस्था की तुलना कर उनको पटोन्नत करने के पक्ष में अपना मत दिया था। उनमें से एक पहले स्थान पर आ गया था और मेरा नाम दूसरे स्थान के लिए संस्तुत हो पाया था। C.I.D द्वारा मेरे गाँव में जाकर उसकी इन्क्वायरी भी सम्पन्न कर ली गयी थी। पर भारत सरकार के वित्तीय संकट के कारण संसद में केन्द्रीय वित्तमंत्री यशवंत राव चव्हाण ने उस वर्ष केन्द्र सरकार के विज्ञापित पदों में आधी नियुक्ति का बिल पारित करवा दिया। फलतः दूसरे स्थान पर संस्तुति होने के कारण मेरी नियुक्ति वहाँ नहीं हो पाई। वह स्थान ही कटौती में चला गया। 1977 में जब मैं रीडर बनकर गुरु नानक देव विश्वविद्यालय(अमृतसर) आ गया था, तब कुछ ही दिनों बाद नामवर जी वहाँ एक पीएच.डी. मौखिकी लेने हेत पधारे थे। तब उन्होंने मेघ जी के कक्ष में मझे



इंगित करते हुए मेघ जी से कहा था कि इनको तो मैंने NCERT में आज से तीन वर्ष पहले ही रीडर पद पर नियुक्त कर दिया था, पर तब इनका वहाँ नहीं हो पाया, जो अच्छा ही हुआ। वहाँ इन्हें केवल टेबुलवर्क करना पड़ता और इनसे वहाँ किताब तैयार करवायी जाती, वर्कशाप आदि करवाये जाते। यहाँ पढ़ने-पढ़ाने, लिखने और शोध कराने-सबसे जुड़े रहेंगे। आप इन्हें अपने यहाँ ले आए, यह अच्छा किया।

जहाँ तक मुझे ख्याल है, इसके बाद मेरा नामवर सिंह से मिलना अस्सी या इक्कासी में दिल्ली में आयोजित विश्व पुस्तक मेला में हुआ था। भागलपुर के मेरे एक शोधार्थी के पीएच. डी. प्रबन्ध के वह परीक्षक थे और उन्होंने उसकी बहुत अच्छी रिपोर्ट भेजी थी। वहाँ मैंने उनसे निवेदन किया था कि आप मौखिकी के लिए अगले महीने की कोई तिथि या सप्ताह के विषय में मुझे संकेत दे दीजिए, तो मैं वहाँ से आपको उसी के अनुरूप मौखिकी सम्पन्न कराने हेतु आग्रह-पत्र भिजवा दूँगा। तब उन्होंने मुझे कहा था कि मैं भागलपुर मौखिकी के लिए नहीं जाऊँगा। वहाँ वायुसेवा नहीं है। पटना से कार में जाने में काफी समय लगता है और काफी कठिनाई होती है। फिर भागलपुर विश्वविद्यालय ने मेरे द्वारा परीक्षित कई शोध-प्रबंधों के पारिश्रमिक का भुगतान आज तक नहीं किया है। अतः आप किसी अन्य परीक्षक से मौखिकी करवा दीजिए। अंततः मुझे डॉ. रघुवंश (इलाहाबाद) के घर जाकर वह मौखिकी संपन्न करानी पड़ी थी। वे उन दिनों नेत्रकष्ट में थे और यात्रा नहीं कर सकते थे।

नामवर सिंह से मेरी मलाकात प्रायः लगातार संगोष्ठियों में होती रही। BHU की एक संगोष्ठी में लंच के समय उन्होंने मुझसे पूछा-कहिए शीतांशु जी आप पूना की प्रोफेसरी छोड़कर लौटने के बाद अमृतसर में प्रोफेसर हो गए या नहीं? तब तक मैं पूना विश्वविद्यालय की प्रोफेसरशिप से त्यागपत्र देकर अमृतसर लौट चुका था। विश्वविद्यालय के लोगों के बीच इस

बात की बहुत अधिक चर्चा थी। मैंने उन्हें कहा—नहीं, चयन-समिति का गठन हो रहा है। सूची में आपका भी नाम है, क्योंकि मेरी विशेषज्ञता के क्षेत्रों में साहित्य की सर्जनात्मक भाषा भी है। तब उन्होंने कहा—आपके अध्यक्ष कुंतल मेघ मुझे कभी बुलाना नहीं चाहेंगे। मैंने उन्हें कहा भी कि नाम तो कुलपति टिक करते हैं, अध्यक्ष तो विभागीय समिति की ओर से नामिका भेजकर मुक्त हो जाता है। पर उन्होंने मुझे कहा—नहीं, वह मुझे नहीं बुलाएंगे। पर आपका हो जाए. यही मेरी शुभकामना है।

पूना विश्वविद्यालय में मैंने संभवतः 13 जुलाई, 1985 के दिन प्रोफेसर पद पर अपना कार्यभार संभाला था। उस दिन वहाँ के पूर्व विभागाध्यक्ष प्रो. आनन्द प्रकाश दीक्षित ने दोपहर लंच के लिए मुझे अपने घर आमंत्रित कर रखा था। एक बज चुका था। मैं विभाग में डॉ. रामजी तिवारी से विभाग के विषय में जानकारी ले रहा था। तभी प्रो. दीक्षित का फोन आया। आप शीघ्र आ जाइए। नामवर जी आ चुके हैं। लंच तैयार है। केवल आपका इंतजार है। मैं तत्काल उनके घर पहुँचा और हम सबने साथ-साथ लंच किया। नामवर जी ने बधाई और शुभकामनाएँ दीं। फिर वे वज्रासन पर बैठे। वह U. G. C. की नेट परीक्षा के प्रधान परीक्षक के रूप में पना आये हुए थे और 'स्वाति' नामक होटल में U. G. C. की ओर से ठहरे हुए थे। उसके बाद उनसे मेरी मुलाकात बड़ौदा विश्वविद्यालय में साहित्यलोचन की विभिन्न प्रणालियों पर आयोजित संगोष्ठी में हुई थी। वहाँ नामवर जी हर दिन उपस्थित रहे थे और उन्होंने मेरे पूरे व्याख्यान को सुना था तथा उस पर पूछे गए डॉ. भगीरथ मिश्र और डॉ. प्रेमस्वरूप गुप्त को मेरे द्वारा दिए गए उत्तर को भी सुना था। पर वहाँ उनसे मेरी हर दिन परस्पराभिवादन के अतिरिक्त और बात नहीं हो सकी।

1985 में नामवर सिंह हरियाणा, ग्रंथ अकादमी की ओर से गठित हिन्दी पुस्तक-निर्माण समिति के अध्यक्ष

थे। वहाँ उन्हें विभिन्न विषयों पर ग्रंथ-निर्माण करने के लिए विशेषज्ञ विद्वानों की संस्तुति करनी थी। तब उन्होंने शैलीविज्ञान विषय पर पुस्तक लिखवाने के लिए मेरे नाम का संस्तवन और निर्धारण किया था। मेरे पास अकादमी के निदेशक का पत्र उनके नामोल्लेख के साथ आया था। मैंने पुस्तक तैयार कर दी थी। जो 1987 में अकादमी की ओर से छपी भी।

इसके बाद 2002-03 में एक ऐसी घटना घटी जिससे नामवर जी मेरे कारण बहुत दुखी हुए और उनका चित्त बहुत व्यथित हो गया। वह BHU के किसी पुनश्चर्या पाठ्यक्रम में समापन-व्याख्यान देकर आए थे। वहाँ अनेक विश्वविद्यालयों, महाविद्यालयों के अध्यापक प्रतिभागी बनकर गए थे और उनका वह व्याख्यान रिकॉर्ड किया गया था। बाद में वह लखनऊ से निकलने वाली एक अतियव कालीन त्रैमासिक पत्रिका में प्रकाशित भी हुआ था। बृजेशकुमार श्रीवास्तव उसके सम्पादक थे और उन्होंने मुझसे आग्रह किया था कि नामवर सिंह के इस व्याख्यान में विद्यानिवास मिश्र पर कुछ आपत्तिजनक टिप्पणियाँ हैं। मेरा आग्रह है कि आप उसका खंडन करें और मैं उसे छापूँगा। उन्होंने नामवर सिंह के व्याख्यान वाला वह अंक मुझे भेज दिया था। मैंने जब उनका वह मुद्रित व्याख्यान पढ़ा, तब मुझे स्थल-स्थल पर नामवर जी के चिंतनात्मक स्खलनों और अंतर्विरोधों को देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। मुझे लगा कि शायद नामवर जी यह समझने लगे हैं कि हिन्दी में विवेकसंपन्न अध्यापक, श्रोता या पाठक अब नहीं रह गया है कि वह जो कुछ कहते हैं, उसे हिन्दी में ब्रह्मवाक्य समझकर मान लिया जाएगा। अतः मैंने उनके इस पूरे मुद्रित व्याख्यान की प्रत्योलोचना लिख डाली। बृजेश का जब फोन आया तब मैंने उसे कहा कि मैंने पूरे व्याख्यान की ही प्रत्यालोचना कर दी है, क्योंकि व्याख्यान असंगतियों से भरा पड़ा है। यदि आप इसे छाप सकेंगे तभी मैं आपको भेजूँगा। उसकी हामी पर मैंने अपना लेख भेज दिया और वह अविकल

छपा। जब उन्हें अंक गया तो कहते हैं कि उसे पढ़कर नामवर जी दुख, क्षोभ, और क्रोध के मिश्रित भाव उठे थे। उस रात में ही उन्होंने बृजेन्द्र को फोन करके कहा था कि इसे छापने के पहले मुझे दिखा तो लेना था। बृजेन्द्र मार्क्सवादी शिविर के ही व्यक्तियों में हैं। पर वस्तुस्थिति यह थी कि मैंने वह प्रत्यालोचना इसलिए की कि नामवर जी अंतर्विरोधी और निस्सार तत्त्वों को अपनी वाक्पटुता से चमकाकर भविष्य में प्रस्तुत न करें, क्योंकि उससे पाठकों का साहित्य-विवेक कूटित हो जाता है और वे गलत तथ्यों की स्थापनाओं का ही समर्थन करने लगते हैं।

इसके बाद भी नामवर जी से मेरा तीन-चार बार मिलना हुआ। पहला मिलना दिल्ली के दीनदयाल उपाध्याय मार्ग पर स्थित राजेन्द्र बाबू पर होने वाले एक समारोह में हुआ था, जहाँ उनसे एक-दो मिनट तक औपचारिक कुशल-क्षेम की ही बातें होती रही थीं। फिर हम दोनों अलग-अलग जाकर बैठ गए थे। इसके दो वर्ष बाद पुनः इसी राजेन्द्र भवन में डॉ. मंगलमूर्ति ने अपने पिता शिवपूजन सहाय की सद्यः प्रकाशित ग्रंथावली का विमोचन-कार्यक्रम रखा था। वहाँ भी नामवर जी से मेरी मुलाकात हुई थी और औपचारिक कुशल-क्षेम की बातें करने के बाद वे मंच पर चले गए थे और मैं अपनी उपस्थिति दर्ज कराकर मंगलमूर्ति जी से विदा लेकर अपनी बेटी के साथ उसके घर लौट आया था जहाँ उसका बेटा बहुत अस्वस्थ था। इसके बाद पुनः आचार्य रामचन्द्र शुक्ल-विषयक एक संगोष्ठी में मेरा और नामवर जी का मिलना हुआ था। हम दोनों एक-दूसरे के पास ही बहुत निकट बैठे थे। नामवर जी नब्बे वर्ष की अवस्था पार कर गए थे। 2015 की 16 जनवरी को यह मिलना हुआ था। वहाँ वह बैठे-ही-बैठे बोले, विषय पर बातचीत-भर की। उनके सामने माइक था, जिससे आयताकार बैठे सारे आमंत्रित प्रतिभागी श्रोता उनकी वाणी का श्रवण कर सकते थे। पर तब न तो नामवर जी में वाग्मी-वक्ता का तेज शेष रह गया

था और न आवाज का आकर्षण और उसकी गूँज-अनुगूँज ही शेष थी। धाराप्रवाह बोलने वाला यह वाग्मी वक्ता बहुत धीरे-धीरे और रूक-रूक कर बोल रहा था। कुछ स्मृतियों की साँझ भर कर रहा था, जिसकी अभिव्यक्ति बहुत सपाट कलाविहीन और श्रीविहीन थी। वहाँ मैंने नामवर जी को एक शोभा-पुरुष के रूप में देखा और स्वीकार किया। चलने में भी उनकी शारीरिकता उनका साथ नहीं दे पा रही थी। वह बहुत मंद गति से बढ़ रहे थे और वह कोई सहयात्री ढूँढ़ रहे थे, जिसके कंधे पर हाथ रख सकें, या जिसकी हाथ धाम सकें। तभी गोपेश्वर (दिल्ली, विश्वविद्यालय) उन्हें मिल गये थे। प्रकृति किसी को नहीं छोड़ती, यह तो मैं जानता था, पर यह नहीं जान सका था कि जब सबकुछ छिने का समय समीप हो, तो साहित्य-पुरुष और सबकुछ भूलकर अपने साहित्यिक तेज को ही यथाशक्ति बचाने की भरपूर चेष्टा करे और वहाँ भी उसका कोई वश नहीं चल पाता है। बस परिणाम भर सामने होता है।

नामवर जी मार्क्सवादी खेमे में रहे, साहित्य में मार्क्सवाद के प्रवक्ता रहे। पर वह मुख्यतः हिन्दी के रूपवादी आलोचक ही रहे। कृति को समग्रता में पहचानने, भाषा के सहारे कृति की पहचान करने और पश्चिमी रूपवादी प्रतिमानों की हिन्दी में स्थापना करने और रचनाओं में उसके संघटनात्मक दृष्टान्त ढूँढ़ने का काम करते रहे। छायावाद पर लिखते हुए कहीं-कहीं अपने फ्लैशैज़ का प्रयोग कर उसे मार्क्सवाद से जोड़ने का असफल प्रयास भी किया। वह बहुत प्रतिभाशाली साहित्य-पुरुष के रूप में उभरे थे पर साहित्य की निष्ठा, ईमानदारी और साहित्यविवेक की गहराई जैसे महत्त्वपूर्ण दायित्व-धर्म का निर्वाह नहीं कर सके। साहित्य से सामयिक अस्थायी यश की लिप्सा तथा वायुमान-यात्रा के आकर्षण ने उन्हें बर्बाद किया। वह लिखने के लिए जमकर मेज पर बैठ नहीं सके। संभवतः वे इस पुरानी उक्ति को मानने वाले थे कि लिखने से हाथ कट जाते

हैं। वह पढ़ते तो थे, पर चिन्तन नहीं करते थे। कालार्डल का कथन याद आता है—Thinking without reading is dangerous and reading without thinking is the sheerwaist of time.

उन्होंने हिन्दी साहित्य और आलोचना में अपनी समझ से एक नामवर-युग का निर्माण करना चाहा। एक ऐसा युग, जो स्थापित नहीं हो सका। विश्वविद्यालयों की राजनीति में अध्यक्षता के चक्रांतरण में जिसके-जिसके पास अध्यक्षता जाती रही, वह उस-उसके पास डोलते रहे और पुराने मित्र-अध्यक्षों को भूलते गये। विजेन्द्र नारायण सिंह ने नामवर जी के व्यक्तित्व के इस पक्ष पर विस्तार से प्रकाश डाला है। ऐसी स्थिति में नामवर जी के लिए न मित्रों का महत्त्व रहा और न विद्वानों के प्रति यथायोग्य प्रेम या आदर-भाव। आलोचना को इन्होंने स्थापित और मान्य साहित्यकारों, विद्वानों के प्रति प्रतिशोध का मंच बना दिया। इन्होंने रमेश कुंतल मेघ से महादेवी वर्मा के विरोध में बहुत घटिया आलेख लिखवाकर 'आलोचना' में छापा, क्योंकि महादेवी जी ने उनके साथ जुड़े प्रवादों के कारण उन्हें दिल्ली विश्वविद्यालय में नियुक्त नहीं होने दिया था। वे डॉ. नगेन्द्र का आजीवन विरोध करते रहे और उनके विरोध में भी उन्होंने रमेशकुंतल मेघ से ध्वंसात्मक आलेख लिखने के लिए कहा। पर मेघ जी ने नगेन्द्र जी के विरोध में लिखने से अस्वीकार कर दिया। इस पर मेघ जी के साथ इनका संबंध पूर्ववत् नहीं रह पाया। नामवर जी में अंत-अंत तक हर किसी आमंत्रण को स्वीकार कर लेने और वायुमान से हर कहीं चले जाने का एक अजीब-सा आकर्षण बना रहा है।

तीन-चार वर्ष पूर्व एक साहित्यिक-राजनीतिक सभा (दिल्ली) में वह आमंत्रित थे। वहाँ उन्हें मंच पर बिठाया भी गया। पर उन्हें अन्त में न तो शॉल भेंट की गई और न मोमेंटो ही दिया गया और न ही हिन्दी के इस महा-आयोजन में उन्हें बोलने के लिए भी कहा गया। क्योंकि वहाँ पर राजनेताओं की भरमार थी।

केवल उनके मंच पर चढ़ने के पूर्व भाजपा की सांसद मीनाक्षी लेखी ने उनका चरण-स्पर्श कर अपना नमन निवेदित किया। उनका ऐसा सभामोह न केवल उनके अपमान का कारण बना, अपितु उनके ब्याज से हिन्दी साहित्यकारों के अपमान का कारण भी बना।

नामवर जी भाजपा के नेताओं से भी अच्छा संबंध बनाकर रखते थे, चाहें वे अटल बिहारी वाजपेयी रहे हों या विष्णुकांत शास्त्री। कांग्रेस और सपा की हुकूमत में तो वह राजसत्ता और प्रभुसत्ता तथा आर्थिक लाभ वाले पद के निकट ही रहे। मेरी दृष्टि में वह स्वभावतः सामन्तवादी और अवसरवादी रहे। अपनी शिविर-मंडली और शिष्य-मंडली में मार्क्सवादी और अधिकांशतः अपने व्याख्यानों में वाग्लववादी तथा लेखन में रूपवादी

रहे हिन्दी की पुरस्कार-समितियों में वह व्यक्तिपरक या दृच्छिकतावादी रहे। महान साहित्यकारों और प्रतिभासम्पन्नों के लिए वह प्रतिशोधवादी टिप्पणीकार के रूप में हिन्दी साहित्य में जाने जाते रहेंगे। उनमें व्यक्तित्व की संकल्पशीलता, लेखकीय निष्ठा और रचना के अर्थ-भावन तथा उसके अर्थ गहर में प्रवेश करने की क्षमता का अभाव रहा। कुल मिलाकर साहित्यकार के रूप में उनका समकालिक महत्त्व तो रहा, पर उन्होंने ऐसा कुछ भी नहीं लिखा, जो उन्हें कालजयी महत्त्व प्रदान कर सके। फिर भी वह अपने समकालीन मित्रों, श्रोताओं और साहित्यप्रेमियों के लिए 'पिक-प्रतिभा' के वाग्मी. स्वाभिमानी के रूप में सदैव स्मरणीय रहेंगे।

संपर्क : 09878647468

## आलोचक नामवर सिंह : आलोचना करने और सहने का उदार-बोध

शशिभूषण द्विवेदी

अब जबकि नामवर सिंह या अपने शुरूआती दिनों के कविता लिखनेवाले नामवर सिंह 'पुनीत' हमारे बीच नहीं हैं तो हिन्दी की परंपरा के अनुसार उन्हें काफी याद किया जाएगा; क्योंकि यहां आदमी मरने के बाद ज्यादा काम का माना जाता है। लेकिन नामवर सिंह का यह आलोचनात्मक पक्ष भी काफी मजबूत है कि उन्हें जीवनकाल में भी खूब याद किया गया; या कहिए कि उन्होंने अपने कद, प्रतिभा और पद के बूते ऐसा माहौल बना या बनवा रखा था कि उन्हें नजरअंदाज नहीं किया जा सकता था। उन्होंने न सिर्फ जीवनभर आलोचना लिखी या की; बल्कि उसी अनुपात में उन्होंने आलोचना झेला भी। और उसे हमेशा एक भद्रता से भरा मानवीय संस्कार यह दिखाते हुए देते रहे कि आलोचना करने वाला भी कम महत्वपूर्ण नहीं होता; यदि आलोचना रचनात्मक और अधिकतर के लिए स्वीकार्य हो, या सार्थक बहसों की मांग करती हो।

मैं नामवर जी का प्रशंसक दिल्ली विश्वविद्यालय के अपने विद्यार्थी जीवन के अस्सी के दशक से रहा हूँ जब मेरी पीढ़ी के लोग वहाँ ऑनर्स, एम.ए., या एम. फिल. विभिन्न अनुशासनों में तो कर रहे थे; लेकिन नामवर जी हम सबके लिए एक गणितीय लघुतम समापवर्तक थे क्योंकि उनके यहाँ हर अनुशासन के लोगों का तांता जे.एन.यू. और उनके घर दोनों जगह लगा रहता था। उनकी विशेषता यह थी कि उनसे कोई भी आदमी कोई बढ़िया बात कर दे या किसी अच्छी किताब का नाम ले; तो सबसे पहले उनसे यही सुनना पड़ता था "अच्छा बेटा सुनिए। यह किताब मुझे कैसे मिलेगी।" हम सब उन्हें कहीं न कहीं से खरीद कर उनके लिए वह किताब उपलब्ध करा देते थे और फायदे में इसलिए रहते थे कि उनसे ऐढ़ा का डेढ़ा वसूलते थे; या वे खुद ही हमें इस बदमाशी के लिए उत्साहित दो सौ की किताब के लिए पांच सौ का नोट देकर कहते थे। "ले जाव, ले जाव। तुम सब मिठाई खा लेना।" काश! दिल्ली और जे. एन. यू. में यह पवित्र उदारता बरकरार रही होती! तो खैर! इस छोटे से संस्मरण में सब कुछ समेटना मुश्किल है; इसलिए उनकी उदारता, सहृदयता और आलोचना करने सहने की उदात्त मनुष्यता पर ही चंद शब्द कहना चाहता हूँ।

हिन्दी आलोचना में बी. एच. यू., सागर और जोधपुर में रहते हों उनकी स्थिति नामी हो गई थी; लेकिन जे. एन. यू. में उनसे जितना कम लिखवाया उतना ही प्रसिद्ध बनाया और एक समय तो ऐसा भी आया जब पत्रकार प्रभाष जोशी की मदद से वे 75 वर्ष पूरे करने के बाद कई राजनीतिज्ञों की तरह विख्यात कख्यात दोनों हुए। अपनी आलोचना के क्रम में उन्होंने वेदों पर



लिखने के लिए रामविलास शर्मा को जितना कोसा, या रीतिकाल के लिए डॉ. नगेन्द्र को जैसा आड़े हाथों लिया, या अशोक वाजपेयी और राजेन्द्र यादव को समय-असमय जिस तरह पीटने-निपटाने की कोशिश की; वह इतिहास का हिस्सा है। लेकिन उन्होंने विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, राजेन्द्र यादव या शशिभूषण शीतांशु वगैरह की आलोचनाओं को जिस तरह झेला या उन सबके प्रति जो कटुताहीन बड़प्पन दिखाया वह भी नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। देश भर के हिन्दी विभागों में एक खास 'वादी' गुट जो सातवें दशक से हावी हुआ, उसमें नामवर की 'नामवरी' का योगदान वैसे ही था जैसे छठे, सातवें दशक में दिल्ली के नगेन्द्र, पटना के देवेन्द्रनाथ शर्मा और अलीगढ़ के हरवंश लाल शर्मा के तिकड़ी का हिन्दी विभागों में था। लेकिन नामवरजी की विशेषता यह भी थी कि वे प्रतिभाशाली लोगों को पूछ-पूछ कर भी 'एडजस्ट' करते रहे। महाराष्ट्र के वर्धा में अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय में सैकड़ों लोगों को नामवरजी के अनुमोदन पर नौकरी मिली और सैकड़ों छात्र उनकी मदद से देश-विदेश गए, या उनकी किताबें प्रकाशकों में छपी उनके बड़प्पन का एक किस्सा डॉ. चन्द्रकांत वादिबडेकर ने अपने एक संस्मरण में बयान किया है-हुआ यूँ कि पूणे में कोई साहित्यिक आयोजन था जिसके कर्त्ताधर्ता डॉ. वादिबडेकर थे। उन्होंने डॉ. नगेन्द्र और नामवर सिंह दोनों को कार्यक्रम में आमंत्रित किया। अब चूँकि दोनों को दिल्ली से जाना था इसलिए दोनों एक ही जहाज से पूणे पहुंचे। साथ ही उतरे। डॉ. वादिबडेकर लिखते हैं, "हम सब हवाई पट्टी पर दोनों को लेने गए हुए थे। दोनों जहाज से साथ ही उतरे। मैं देखता क्या हूँ कि नामवर जी डॉ. नगेन्द्र का छोटा वाला ब्रीफकेस और अपना भी लेकर साथ ही उतर रहे हैं। मैंने उनसे कहा कि डॉ. साहब हमें दे दीजिए आप दो-दो लिए हुए हैं। नामवर जी मुस्कराए और बोले-चंद्रकांत जी। आप चाहें तो मेरा वाला ले सकते हैं। डॉ. साहब वाला

ब्रीफकेस तो मैं ही ठोऊँगा।" दुनिया को यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि अपनी कई किताबों में नामवरजी डॉ. नगेन्द्र की कई स्थापनाओं के विरोधी रहे हैं। लेकिन सामाजिक जीवन में नामवर जी अपने आलोचकों के प्रति भी अद्भुत सहनशील और उदार थे। अशोक वाजपेयी ने तो "नामवर की विफलताएँ" नामक निबंध ही लिखा है। डॉ. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी ने "दस्तावेज" में नामवरजी पर कटु टिप्पणियाँ की हैं लेकिन उनका भी मानना है कि नामवर जी साहित्यिक पहलवानी को साहित्य तक ही सीमित रखते थे। सवाल है कि ऐसे लोग कौन होते हैं या किस मानसिक बनावट के होते हैं। या उनका मनोविज्ञान कैसा होता है।

देश-विदेश में सैकड़ों राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय ख्याति के विभिन्न अनुशासनों 'हिन्दी के इतर' को विद्वानों के संपर्क में रहने के कारण मेरा यह अनुभव पक्का हुआ है कि एक तो सच्ची-विद्वता, या स्फुलिंग किस्म की प्रतिभाएँ मुद्दों पर तो कभी-कभी आक्रामक हो जाती हैं, या हो सकती हैं, लेकिन वे मानवीय स्तर पर अत्यंत उदार होती हैं, यानि 'विद्या ददाति विनयं' उनका स्वाभाविक गुण होता है। इस तरह के लोग अपनी भी आलोचना करने से नहीं चूकते और जो अपने पर हंस सकता है, वह मानवीय स्तर पर बंजर नहीं हो सकता। नामवर जी के संपर्क वाले जानते हैं कि वे मजाकिया भी आले दरजे के थे और अपना भी मजाक उड़ाते थे और दूसरों का भी। लेकिन साथ ही साथ उनमें सहृदयता और अपनों के प्रति उनका लगाव इतना स्वाभाविक और वत्सल था कि वे सबके दुःख से दुःखी होते प्रायः देखे जाते थे। दुनिया जानती है कि 1959 में बीएचयू में पढ़ाते समय सीपीआई के टिकट पर चुनाव लड़ने के कारण पहले उन्हें और बाद में उनके गुरु पितु मातु सदृश डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी को जब वहाँ से निकाला गया तो नामवरजी की पहली भावुक प्रतिक्रिया यही थी, 'मुझे अपना अफसोस नहीं है। लेकिन मेरे कारण पंडिज्जी को जाना पडा: यह

ग्लानि जीवन भर मेरा पीछा नहीं छोड़ेगी'। यह अनायास नहीं है कि डॉ. द्विवेदी के बी. एच. यू. से निकाले जाने के तुरत बाद हिन्दी के धुर-विरोधी उर्दू-अंग्रेजी के जाने-माने विद्वान फिराक ने भी अपनी प्रतिक्रिया में विश्वनाथ त्रिपाठी से कहा था 'क्या? हजारि प्रसाद को निकाल दिया। ससाले वी.सी. को कोई खाने में जहर क्यों नहीं दे देता।' फिराक का गस्सा ही अपनी ही तरह का होता था।

मतलब यह कि एक तो नामवर भारी प्रतिभा-संपन्न एम. ए. में फर्स्ट-क्लास फर्स्ट लाने वाले अत्यंत मेधावी छात्र रहे, भारी पाढ़ाकू रहे, विद्या को उन्होंने पचाया, आलोचना को सामाजिकता से जोड़ा और अत्यंत भाग्यशाली इस मामले में रहे कि डॉ. हजारि प्रसाद द्विवेदी जैसों का संपर्क उन्हें मिला। इन सबने मिलकर

उन्हें विदूता और उदारता के एक मॉडल के रूप में सहनशील बनाया और वे अलोचना जिस पहलवानी से करते थे, या अपने लिए कोई नामी पहलवान चुन लेते थे; उसी पहलवानी-सहनशीलता से दूसरों द्वारा की गई अपनी आलोचना को बर्दाश्त करके एक उदार चित्त-मानवीय पहलू भी प्रस्तुत करते थे। सागर, या बीएचयू, या जोधपुर में जिस अनुदार माहौल का सामना अपने पान खाने की आदत, या दूसरों को देखकर कुर्सी से नहीं उठने की अपनी ठसक के कारण उन्हें करना पड़ा, वह किसी को एकदम कुंठित और अनुदार बता सकता था; लेकिन नामवरजी के व्यक्तित्व पर ज्ञान का जो उदार अंकुश था उसने उन्हें हमेशा मानवीय बनाए रखा। उनके इस पहल पर शोध की आवश्यकता है!

संपर्क : 9775938214

## कहानी : नयी कहानी

डॉ. राणा प्रताप

कहा जाता है, कविता की भूमि और कहानी की भूमि एक समान नहीं होती। कविता में भावुकता अथवा संवेदना की सार्थक गुंजाइश होती है, कहानी में यथार्थ का कोई दूसरा पर्याय नहीं होता। जैक लंडन ने भी कहा है, “यथार्थ अदभुत होता है। वह हमारी कल्पना के लिए बहुत कुछ गुंजाइश छोड़ जाता है।”

और जब फ्रांस के प्रसिद्ध कथाकार विचारक सार्त्र ने कहा कि ‘गंध एक जनतांत्रिक विधा है।’ तो विश्व भर में जैसे रंगाया बरसा हो गया। सार्त्र का यह कथन कविता के लिए भी एक चुनौती से कम न था। कविता सदियों से चली आ रही सामंती समाज से निकल आधुनिक बनी थी, जबकि कहानी आधुनिक समय की देन थी। शायद, इसीलिए राजेन्द्र यादव ने सार्त्र के उपर्युक्त कथन को हिंदी में खूब प्रचारित-प्रसारित किया।

सच कहा जाए तो हिंदी में 1955 से 1965 का समय जोरदार कथा-सृजन का समय था। एक से बढ़कर एक कहानियाँ सामने आ रही थीं। नये तथा पुराने सभी कथाकार सृजन के मोर्चे पर डटे थे। ‘कहानी’ पत्रिका जो पत्रिका जो सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद से निकलती थी, उन दिनों चर्चा का विषय बनी हुई थी। इस पत्रिका के नववर्षांक 1957-58 और 1959 खास तौर पर यादगार अंक बन गए। इस संदर्भ में ‘नई कहानियाँ’ पत्रिका को भी नहीं भूल सकते जो इलाहाबाद से ही निकलती थी। जाहिर-सी बात है, कहानी विधा की जब इतनी धूम मची हो तो नामवर सिंह भला चुप कैसे बैठते? ‘कहानी’ पत्रिका के तीनों विशेषांकों में तो उनके लेख थे ही, ‘नई कहानियाँ’ पत्रिका के स्तंभ ‘हाशिए पर’ में क्रमशः जनवरी 1960 से दिसम्बर 1962 तक वे लगातार लिखते रहे। हां, इस संदर्भ में हम ‘माया के नव वर्षांक 1965 को भी नहीं भूल सकते।

‘कहानी : नयी कहानी’ की भूमिका में नामवर जी ने स्वयं लिखा है, “यह पुस्तक लगभग एक दशक(1956-1965) की चिंतन-यात्रा की एक पगडंडी है जिससे मैंने कथा-समीक्षा की एक पद्धति निकालने की कोशिश है।”

ध्यान दीजिए नामवर जी के इस कथन पर “मैंने कथा-समीक्षा की एक पद्धति निकालने की कोशिश की है।” गौरतलब बात है कि कथा-यात्रा के पचास साल बीत जाने के बावजूद कथा-समीक्षा की कोई पद्धति नहीं निकाली जा सकी थी। तब तक आह-वाह और गण-दोष वाली शैली ही कथा-समीक्षा के क्षेत्र में राजकर रही थी। ऐसी स्थिति में

उनके द्वारा कथा-समीक्षा की एक छोटी पगडंडी निकालने की कोशिश की अवश्य सराहना होनी चाहिए।

वे फिर आगे बताते हैं “यह कहानी-चर्चा कुछ काव्य-समीक्षकों को पसंद नहीं आई। उन्हें इस बात पर एतराज था कि हिंदी में कहानी-चर्चा को खामखाह इतना तूल दिया जा रहा है। उनकी नजर में कहानी इस लायक है ही नहीं कि उसे गंभीर समीक्षा का विषय बनाया जाए। हो सकता है, इस तरह का पूर्वाग्रह बहुतों के मन में हो। कहानी समीक्षा में कदम उठाने से पहले शायद इस प्रकार की दुविधा कुछ-कुछ अपने मन में भी थी। किंतु कुछ दिनों बाद जनवरी 1962 के एसेज इन क्रिटिसिज्म में स्वयं पत्रिका के संपादक और अंग्रेजी के जागरूक समालोचक एफ. डब्ल्यू. बेटसन एवं वी. शाहेविच आरा प्रस्तुत कैथरीन मैसफिल्ड की कहानी ‘मक्खी’ का विश्लेषण देखकर संतोष हुआ। इस कहानी में आलोचना की वही विश्लेषणात्मक पद्धति अपनाई गई जो पिछले कुछ दशकों से छोटी कविताओं के विश्लेषण में सफल पाई गई थी। इस निबंध से मेरे निकट उन लोगों के भी उत्तर प्रस्तुत था जिनका आरोप था कि मैं कहानी समीक्षा में काव्य-समीक्षा की पद्धति का बलात उपयोग कर के भूल कर रहा हूँ।”

दरअसल ‘कहानी : नयी कहानी’ के जरिए उन्होंने यह जांचने की कोशिश की थी कि नयी कहानी में नया क्या है? कथा-समीक्षा की एक नयी पद्धति विकसित करने की कोशिश तो थी ही। गड़बड़ झाला भी यही ये प्रारंभ होता है। उन्होंने प्रमुख कथाकारों मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव और कमलेश्वर की त्रयी की कहानियों के बरक्स निर्मल वर्मा की कहानी ‘परिदे’ को पहली नयी कहानी के रूप में मान्यता दी। ज्यादातर आलोचकों की राय में मोहन राकेश की कहानी ‘मलबे का मालिक’ पहली नयी कहानी थी, लेकिन नामवर जी ने ऐसी कहानियों को अधरा अनभव कहकर खारिज किया।

हिंदी की कथा-समीक्षा में वाद-विवाद की शुरुआत

भी यहीं से होती है। नामवर जी का स्पष्ट कहना था कि “नया विषय लेने से ही कोई कहानी नयी नहीं हो जाती, महत्त्वपूर्ण है विषय के प्रति लेखक की दृष्टि और फिर तदनुरूप उसका कलात्मक निर्वाह।” निर्मल वर्मा की कलात्मकता उन्हें भा गई थी। इसको लेकर वे कोई समझौता नहीं करना चाहते थे। हालांकि मोहन राकेश की कहानी ‘मलबे का मालिक’ कल भी चर्चा में थी और आज भी पाठकों की पसंदीदा कहानी बनी हुई है। इन कहानियों की चर्चा के बीच एक दुर्घटना अवश्य हुई। भुवनेश्वर की अत्यंत आधुनिक और दिलचस्प कहानी ‘भेड़िए’ का छूट जाना।

ध्यान दीजिए, ‘कलात्मक निर्वाह’ शब्द पर। कलात्मक के प्रति इसी आग्रह ने नामवरजी को निर्मल वर्मा की कहानियों का मुरीद बनाया। उन्होंने निर्मल वर्मा की कहानियों की जमकर तारीफ ही नहीं थी, बल्कि जब निर्मल वर्मा पर पलायनवादी होने का आरोप लगने लगा तब भी वे निर्मल के बचाव में खुलकर सामने आए। उन्होंने साफ शब्दों में कहा, ‘कौन जाने, इसी तरह हिंदी में जिस निर्मल को इधर पलायनवादी कहा जा रहा है, वे अंततः इस तथाकथित ‘सामाजिक’ कथाकारों से ज्यादा सामाजिक और बुनियादी रूप से अपने युग के सच्चे प्रवक्ता प्रमाणित हों।” मगर ऐसा नहीं हुआ। उनकी घोषणा भ्रामक साबित हुई। आज दिन के उजाले की तरह साफ है कि निर्मल कहां से कहां पहुंच गए और सामाजिकता की बात करने वाले की कहानी थी ज़मीन पर टिके रहे। जिस सामाजिक शब्द को उन्होंने सिंगिल इन्वर्टेड कामा में लिखा था, वही सामाजिकता निरंतर उनसे विमुख होती चली गई।

हां, उन्होंने कहानी के लिए एक नयी समीक्षा-पद्धति निकालने की कोशिश, इस बात से कोई असहमति नहीं। इस मामले में नामवरजी ने रचनात्मक ईमानदारी और बेबाकी का परिचय दिया है। देसी-विदेशी कहानियों के मार्फत कुछ नया कहने, कुछ नया गढ़ने और कछ नए सत्र बनाने की कोशिश की है। जैसे—

1. कहानी की सफलता का अर्थ है अर्थवत्ता या सार्थकता। (पृ. 24)

2. कथानक संबंधी तथाकथित 'आधुनिक' और 'वैज्ञानिक' धारणा कोई शाश्वत चीज नहीं है। (पृ. 95)

3. अनुभववाद जल्दी ही कुंठित होकर वस्तुस्थिति से समझौता करने के लिए लाचार हो जाता है। (प. 191)

4. ऐंद्रजालिक (फैंटेसी) कहानियां समय के सिमटते दायरे को तोड़ती हैं। (पृ. 80)

5. कहानी स्वयं एक प्रक्रिया है। ऐसी प्रक्रिया जिससे होकर लिखते समय लेखक गजरता है। पढ़ते समय पाठक। (पृ. 73)

6. जहां व्यावसायिकता आ गई, वहां नये सजन की संभावना समाप्त। (पृ. 191)

7. नया विषय होने से ही कोई नयी कहानी नहीं हो जाती, महत्वपूर्ण है विषय के प्रति दृष्टि और तदनुरूप उसका कलात्मक निर्वाह। (पृ. 167)

आधुनिकता एवं वैज्ञानिकता, अनुभववाद एवं प्रमाणिकता, अनुभव के सिमटते दायरे और फैंटेसी, शिल्प और भाषा की बुनावट, खुरदुरे शब्द और रेशमी भाषा, सहज स्वाभाविक अंत और चमत्कारिक एण्ड आदि की बातें लगातार होती रहेंगी। गांव, कस्बा, नगर और महानगरीय बोध की कहानियां भी लगातार आती रहेंगी। प्रयोग और परंपरा, आदर्श और यथार्थ, मूल्य और मूल्यहीनता, कल्पना और जादुई यथार्थ की बातें भी खूब होंगी। वैसे मेरा मानना है, कहानी हो अथवा आलोचना मनष्य का पक्ष छोड़कर शायद ही चल पाएंगी।

वाद, विवाद और संवाद चलते रहना चाहिए। किसी जागरूक अथवा जाग्रत समाज की यह पहचान है। साहित्य का मोर्चा अथवा संस्कृति का, विमर्श के चलते रहने से गतिशीलता एवं प्रगतिशीलता दोनों को आवेग मिलता है। इस काम को नामवर जी ने बखबी निभाया है।

यहां एक खास बात की ओर ध्यान जरूरी है। नामवर जी ने लिखा है, "जहां व्यावसायिकता आ गई, वहां सृजन की संभावना समाप्त।" नामवर जी ने तब इसे मोटे टाईप में नहीं लिखा था, लेकिन आज इसे मोटे टाईप में लिखे जाने की जरूरत है।

आप पूछेंगे, 'ऐसा क्यों?'

जवाब एक ही होगा, 'एक ओर प्रतिरोध और दूसरी ओर व्यावसायिकता। कहानी का यह कौन सा खेल चल रहा है साहित्य में?'

भाई जान! खेल तो ऐसे ही चलता है। उपभोक्तावादी संस्कृति ने सृजन की सभी विधाओं को माल बना दिया है। संस्कृति का औद्योगिक घराना सब कुछ को लपक लेने को आतुर है। प्रतिरोध की शक्तियाँ या तो बिखरी हई हैं या रेंडरेंड कर रही हैं।

नामवरजी ने तभी आगाह किया था—“विडम्बना यह देखिए कि सारा फार्मूलाबद्ध और व्यावसायिक लेखन एक 'नयी प्रगतिशीलता' के नाम पर हो रहा है। जो प्रगतिशील जीवन दृष्टि व्यावसायिकता की घातक, वही व्यावसायिक हार्थों में खेलती हुई प्रगतिशील साहित्य को तोड़ने की कोशिश करे एक बार पहले भी ऐसा हुआ है और प्रगतिशील साहित्यकारों की बहुत बड़ी संख्या फिल्मी खपत के लिए सस्ता व्यावसायिक साहित्य लिखने के रास्ते निकल गई। सच पूछिए तो आज राकेश, कमलेश्वर यहां तक कि यादव भी वही करने लगे हैं जो पंद्रह-सोलह साल पहले कृश्नचंदर ख्वाजा अहमद अब्बास बगैरह ने शुरू किया था। लक्ष्य वही है. रास्ता चाहे अभी दूसरा हो।”

आप कहोगे, कथा आलोचना की बात करते-करते यह कैसी घिसीपिटी पुरानी बात उठा दी? नहीं, भाई जान! बात पुरानी हो अथवा नयी, मनुष्य की सामाजिकता और लोकतंत्र की बात छोड़कर हम एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकते। इस कठिन-कठोर समय में कठिन-कठोर गद्य की मांग पहले के बनिस्पत आज ज्यादा जरूरी है।

**संपर्क : 7667429991**



## कि नव और उत्तर मार्क्सवाद में भी तीसरी दुनिया अभी तक हाशिये पर है

विनोद शाही

मार्क्सवाद के संदर्भ में जब हम भारत और तीसरी दुनिया के सवाल को उठाते हैं तो यह कुछ दुनिया के यथार्थ को सामने लाने का सवाल बन जाता है, जो स्वयं मार्क्सवाद और नवमार्क्सवाद के भीतर एक तरह के 'दलित विमर्श' की तरह है।

अगर हम पूरी दुनिया को अपने सामने रखते हैं तो कर सकते हैं कि मार्क्सवाद का अभी तक का अंतःविकास का जो इतिहास है, उसके केंद्र में मुख्यतः पूरी अमेरिकी चिंतकों का बोलबाला है हालांकि रूस के अलावा यूरोप व उत्तरी अमेरिका के बहुत कम देश ऐसे हैं, जहां समाजवादी क्रांति मुमकिन हुई और जमीनी हालात साम्यवाद की ओर आगे बढ़ते नजर आ सके, एशिया में चीन, वियतनाम में उत्तरी कोरिया को ले या लातीन अमेरिका की क्यूबा, ग्वाटेमाला आदि कई देशों की व्यवस्थाओं के वामपंथी वर्चस्व की हकीकत में बदलने की बात पर गौर करें तो दूसरी बात दिखाई देने लगेगी वह यह है कि यूरोप और उत्तरी अमेरिका से बाहर के परिदृश्य में अगर हालात समाजवादी क्रांति वाले हुए भी हैं; तब भी वहां ऐसे बड़े चिंतक या दार्शनिक हमारे सामने नहीं आते जो मार्क्सवादी सिद्धांत पर कोई गहरा या बड़ा मौलिक अंतःविकास करने वाला मालूम पड़ते हों माओत्सेतुंग, फिदेल कास्त्रो या ल्योतार का महत्व इंकलाबी नेताओं की तरह अधिक है, मौलिक चिंतकों या दार्शनिकों की तरह नहीं अब यहां अगर हम भारत की चर्चा करते हैं तो हमारे यहां जिनके पास मौलिक चिंतन की सामर्थ्य थी, उन्हें वामदल केन्द्रित शास्त्रीय मार्क्सवाद के वर्चस्व की वजह से वाम-चिंतन की दुनिया से ही बाहर का रास्ता दिखा दिया गया। एम. एम. राय या ए. एस. डागी के नाम कुछ इसी तरह के हैं और दूसरी तरफ ऐसे लोग जो अपने मौलिक चिंतन को साम्राज्यवाद विरोधी के विविध रूपों से लेकर तीसरी दुनिया के प्रतिरोधी गठबंधन की वैकल्पिक गुटनिरपेक्ष दुनिया तक ले जा रहे थे उन्हें वाम प्रभावित ऐसे लोगों में रखा गया, जो मूलतः वामवादी नहीं माने जा सकते थे। जैसे जवाहरलाल नेहरू या राम मनोहर लोहिया ने यानी जहां जमीनी हालात कभी समाजवादी इन्कलाबों वाले नहीं बने वहीं के चिंतक-दार्शनिक मार्क्सवादी सिद्धांत के मौलिक व्याख्याकारों के रूप में अपनी वर्चस्व स्थिति बनाए हुए दिखाई देते हैं। इस तरह से देखा जाए तो कह सकते हैं कि मार्क्सवाद धीरे-धीरे सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक रूपांतरण के इंकलाबी विमर्श से आलोचनात्मक या नव-व्याख्या-मूलक विमर्श में बदलता चला गया वह दर्शन जो पूरी दुनिया को बदलने निकला था जल्द ही बस खद को थोड़ा बदलने और प्रासंगिक होने-दिखने की हालात का शिकार होकर रह गया।

यह मार्क्सवाद के अंतःविकास का गतिरोध है कि हमारे समय तक आते-आते व नयी मौलिक व्याख्याओं की संभावनापूर्ण दुनिया ज्यादा कुछ नजर नहीं आता इस बात को समझने के लिये हमें मार्क्सवाद के अंतःविकास के इतिहास पर एक विहंगावलोकन करना होगा।

बात को कार्ल मार्क्स से ही उठाना बेहतर होगा, तभी हम उसके अंतःविकास की कोई बोधगम्य रूपरेखा बना सकेंगे यहां हमें चिंतन के द्वन्द्वात्मक अंतःविकास को पकड़ना है, तो हमें देखना होगा कि जहां और जिन दिशाओं में यह अंतःविकास हुआ है वहीं कुछ ऐसा है जो कार्ल मार्क्स के अपने चिंतन में अधूरा अपर्याप्त या अव्याख्यायित छूट गया है। इसलिए अंतःविकास की बात उलट कर हमें कार्ल मार्क्स के चिंतन के परिपक्व क्षेत्रों में नहीं ले जाती, अपितु वह हमें वहां ले जाती है जहां बात कुछ बनती-बनती रह गयी है। तो हुआ यह कि मार्क्स का पूरा ध्यान इस बात पर केंद्रित हो गया है कि हीगेल को कैसे उल्टाया जाये? 'सिर के बल खड़े चिंतन' को पैरों पर कैसे खड़ा किया जाये? हीगेल इस नतीजे पर पहुंचे थे कि मनुष्य की चेतना का निरंतर विकास होता है और एक दिन वह सार्वभौम या शाश्वत चेतना की शक्ल ले सकती है वे देख रहे थे कि चेतना की शक्ल ले सकता है। वे देख रहे थे कि चेतना में आयी तब्दीली, बाहरी यथार्थ को भी बदलता है और इस तरह हमारे सामने इतिहास कल के द्वन्द्वात्मक विकास का नक्शा बनता-खुलता हुआ सामने आता है।

कार्ल मार्क्स ने हमारे सोचने के इस तरीके को बदला। वे देख पाये कि हमारे समाज-राजनैतिक यथार्थ में जो तब्दीलियां होती है। उनकी वजह परंपरागत संस्कृति से आये चेतना के विविध रूप या पड़ाव नहीं अपितु ज्ञान-विज्ञान से पैदा हुई नयी और बेहतर उत्पादन पद्धतियां हैं जो हमारे आर्थिक रिश्तों को बदल देती हैं और फिर उनसे समाज-राजनीतिक व्यवस्थाओं में सत्ता-परिवर्तन भी मुमकिन हो जाता है तब्दीली की इस प्रक्रिया को वे सार रूप में चेतना के नए रूपों की तरह संगठित और निर्मित होता मान रहे थे। परंतु इससे चेतना के संस्कृतिमूलक रूपों की परंपराएं किस तरह बदलती हैं, कितना बदलता है और वे चेतना के नए रूपों के साथ कैसे रिश्ते बनाती हैं? इसकी व्याख्या कार्ल मार्क्स के विवेचनों में अधरी व अपर्याप्त छट गई

थी।

तो कार्ल मार्क्स जब अपने इस सिद्धांत के आधार पर दुनिया को बदलने की इन्कलाबी बात करते हैं तो वहां केंद्र में ज्ञान-विज्ञान के विकास से पैदा होने वाली नयी उत्पादन पद्धतियां आ खड़ी होती है वह जिस दौर में पूंजी के अपने सिद्धांत का विकास कर रहे थे वह दौर यूरोप व अमेरिका में केंद्र में आयी औद्योगिक पूंजीवाद की उत्पादन पद्धति थी इससे चेतना के जो नये रूप पैदा हुए यूरोप व अमेरिका को औद्योगिक पूंजीवाद विकास के चरण व साम्राज्यवाद व फासीवादी पूंजी का एकाधिकारवादी आधिपत्य हो गया। इतिहास की हकीकत है जो कार्ल मार्क्स की इस यूरोपियन दृष्टि के विरोध में जा खड़ी हुई जो यह मान बैठी थी कि औद्योगिक पूंजीवाद के विकास से प्रकट प्रजातान्त्रिक चेतना के रूप पूंजी के अतिरिक्त उत्पादन वाले चरण पर पहुंच जायेंगे और तब अतिरिक्त पूंजी के न्यायोचित बंटवारे के लिये मानवजाति अधिक मानवीय समाजवादी चेतना के नये रूपों वाला सत्ता-व्यवस्था की इन्कलाबी मांग करने लगेंगी यह मांग यूरोप में उठी अवश्य पर इन्कलाब तक पहुंचा रूस में जो औद्योगिक पूंजीवादी विकास के लिहाज से उस दौर तक शेष यूरोप से पिछड़ा हुआ था दूसरी बात या अधिक गौर करने लायक है कि एशिया के ज्यादा करीब पढ़ने वाला रूस संस्कृति के परंपरागत चेतना वाले लोगों रूपों को शेष यूरोप की तुलना में अधिक व्यवहार में लाने की हालात में दिखाई देता था फिर रूस के बाद, जितने देशों में समाजवादी इन्कलाब हुए, वहां सांस्कृतिक चेतना के परंपरागत रूपों की पकड़ और जकड़, यूरोप व अमेरिका के मुकाबले कहीं अधिक गहरी थी। परंपरागत सांस्कृतिक चेतना के अधिक मजबूत ठोस और गहरा होने के साथ-साथ यह बात भी गौरतलब है कि इन गैर यूरोप-अमेरिका इन्कलाबों की नयी उत्पादन पद्धति से उपजने वाली नई प्रगतिशील चेतना का कोई विकसित आधार नहीं मिला था एशिया और लातीन अमेरिका के जो

देश बाद में समाजवाद की ओर मुड़े वहां औद्योगिक पूंजीवाद पद्धति से उपजने वाले अतिरिक्त मूल्य ने गुणवत्ता मूलक परिवर्तन को जन्म नहीं दिया था। तब स्पष्ट है कि चीन, वियतनाम, उत्तरी कोरिया, क्यूबा या ग्वाटेमाला में औद्योगिक पूंजी के अतिरिक्त मूल्य के संघर्ष परंपरागत सांस्कृतिक चेतना को नयी प्रगतिशील चेतना में बदलने में एकमात्र मुख्य भूमिका नहीं निभायी है अपितु चेतनामूलक परिवर्तन एक सिलसिलेवार रूप में परंपरा और आधुनिकता के सकारात्मक प्रगतिशील रूपों के परस्पर सहभागी होने का नतीजा था। यानी परंपरागत चेतना के जो रूप अंधविश्वासों से भरे होने के कारण पिछड़ेपन का पोषण करते हैं, प्रश्न केवल उन्हीं से निजात पाने का होता है। नयी उत्पादन पद्धति से जो विकास होता है उससे जो प्रगतिशील मूल्य पैदा होकर हमारी चेतना का हिस्सा होते हैं वे भी जरूरी नहीं कि समग्रता में प्रगतिकामी और सकारात्मक ही होते हैं। वे अपने साथ उपभोक्तावादी सुविधावाद की ऐसी प्रवृत्तियों भी लाते हैं जो उल्टे प्रगति के विकास में बाधक हो सकती है। तब परंपरागत चेतना के अनेक सकारात्मक आदर्श मूल्य, नयी चेतना के विकास मूलक नव संस्कार में मदद कर सकते हैं। इस तरह सांस्कृतिक परिदृश्य एक अलग तरह के द्वन्द्वात्मक संबंधों वाला हो जाता है जिसे भौतिकवादी उत्पादन पद्धति-मूलक आधार के द्वारा ही निर्मित हुआ नहीं माना जा सकता।

चीन में समाजवादी इन्कलाब होने के लगभग एक दशक के बाद वहां सांस्कृतिक इन्कलाब की बात उठती है और कहा जाता है कि यह इन्कलाब एक लम्बे असें तक लगातार होते रहने से ही अपने सरोकारों को ठीक से पूर्ति कर पायेगा स्पष्ट है कि यह उत्पादन पद्धति और आर्थिक रिश्तों के बदलाव वाले आधार से ही ऊपरी ढांचे में आयी तब्दीली की बाबत नहीं है, अपितु उसके सह-समांतर ऊपरी ढांचे में मौजूद चेतना के परंपरागत सांस्कृतिक रूपों के सकारात्मक इस्तेमाल और प्रगतिशील रूपांतर की प्रक्रियाओं की मौजूदगी

की ओर भी इशारा करता है। चीन की क्रांति से पूर्व में यूरोप में विश्वयुद्ध जनित माहौल जब जर्मन फासीवाद की ओर आगे बढ़ा, तब यह बात सामने आ सकी कि परंपरागत सांस्कृतिक चेतना के नकारात्मक इस्तेमाल से कैसे भयानक नतीजे निकल सकते हैं परंतु बात वहीं तक सीमित नहीं थी। 1930 के आसपास यूरोप के वाम-चिंतन में एक नया उभार देखने को मिल रहा था, जो औद्योगिक पूंजीवाद के साम्राज्यवाद हो जाने के विरोध में वहां मानवीय ऊर्जा से युक्त समाजवादी इन्कलाब को लाने के लिए प्रयासरत था। 1917 की रूस की समाजवादी क्रांति से ठीक पहले लेनिन औद्योगिक पूंजीवाद के उच्चतम शिखर के रूप में साम्राज्यवादी पूंजी के केंद्र में आ जाने को पूंजी के विकास के अगले चरण की तरह देख रहे थे तो हुआ यह कि रूस के समाजवादी इन्कलाब के बावजूद पूंजी के साम्राज्यवादी पूंजी वाले दौर में पहुंच जाने की वजह से यूरोप एकाधिकारवादी पूंजी तंत्र के लिये आपस में लड़ता नजर आया इससे पूंजी के मानवीय न्यायोचित वितरण के लिए अतिरिक्त मूल्य अधिग्रहण की प्रवृत्ति को तैयार नहीं किया जा सका। नव-वाम चिंतन के लिए प्रस्तुत फ्रेंकफर्ट स्कूल फासी जर्मन से निष्कासित होकर अमेरिका पहुंच गया। अब विचार पैदा हुआ कि चेतना के विविध रूपों की मौजूदगी दिखाई तो समाज के ऊपरी ढांचे में देता है, परंतु वह अपने तौर पर 'समांतर आधार' की तरह समाज में काम करते हैं यानी सांस्कृतिक विचार और धारणाओं का इस्तेमाल भी कच्चे माल की तरह किया जा सकता है जिनसे नये सांस्कृतिक चेतना-रूपों का निर्माण हो सकता है जैसे जर्मनी में सांस्कृतिक चेतना के फासीवादी रूपों का निर्माण संभव हो सका इससे चेतना की आधारवादी व्याख्या का मार्क्सवादी सिद्धांत संकट में पड़ गया। शक्ति बदल कर जैसे नव-हीगेलवाद ही इस नव-मार्क्सवादी चिंतन में घसपैठ करता नजर आने लगा।

मार्क्सवाद के तहत होने वाले नव-वाम चिंतन में

संस्कृति विमर्श के दो रूप हमारे सामने आते हैं। पहला है चीन के सांस्कृतिक इन्कलाब से जुड़ा उसमें संस्कृति आधार के हालात की निर्मिति भर नहीं है अपितु वह सदियों से अबतक के जर्मनी हालात से उपजे विविध परंपरागत संस्कृति मूलक चेतना रूपों की वर्तमान में मौजूदगी है। यानी बीता हुआ वक्त कभी पूरी तरह बीता हुआ वक्त नहीं होता वह अगले समय में विविध चेतना-मूलक रूपों में सांस्कृतिक धारणाओं की तरह बचा रहता है। सांस्कृतिक इन्कलाब का मतलब है उस बीते समय की चेतना मूलक सार का अपने समय की जरूरतों के लिये इस्तेमाल ऐसा करने का उद्देश्य होता है कि अतीत वर्तमान का स्वामी न रहे, अपितु उसका सबक हो जाये इस सिद्धांत में संस्कृति के मूलभूत सार्वभौम मानवीय सार को पहचानने और खारिज न करने की बात गहरे में छिपी नजर आती है।

परंतु यूरोप-अमेरिका नववाम चिंतन, जो 1930 से लेकर 1968 तक के कालखंड में निष्कासित हालात में अमेरिका में विकास करता है उसके केंद्र में यह विचार है कि संस्कृति के परंपरागत चेतना रूपों की वर्तमान में मौजूदगी हमें संस्कृति के प्रति नयी उत्पादन-पद्धति मूलक दृष्टि को अपनाने की मांग करती है। चूंकि यह नयी उत्पादन प्रथम औद्योगिक संस्कृति के सवाल को भी हमारे समय में संस्कृति उद्योग के उत्पादों और उनकी खपत के उपभोक्तावादी रूपों की तरह देखा जाना चाहिये संस्कृति उद्योग के इस नये क्षेत्र की तरफ फ्रेंकफर्ट स्कूल से जुड़े भी नववाम चिंतक खासतौर पर केंद्रित होते हैं इन में मुख्य है-हर्बर्ट मार्क्यूज, थियोडोर अडोर्नो, मैक्स होर्खेमीर और लियो लोवेंथल ये चिंतक अपने कुछ पूर्ववर्तियों के ऋणी हैं। जिनमें मैक्स वेबर, हेवरमास व वाल्टर बेंजामिन मुख्य हैं। यही वे सिद्धांतकार हैं जो दुनिया भर के नववाम चिंतन के क्षेत्र में वर्चस्वी भूमिका निभाते हैं इनका सिद्धांत-निरूपण धीरे-धीरे रूस, चीन, वियतनाम, क्यूबा आदि के वास्तविक समाजवादी इंकलाब होते हैं वहां संस्कृति उद्योग से पैदा

हुए संकट की वजह संस्कृति के रूपांतर व क्रांतिकारी इस्तेमाल संभावनाओं पर जोर दिया गया है परंतु उसे मार्क्सवाद का वास्तविक अन्तर्विकास न मानकर, यूरो-अमरीकी नव-वाम चिंतन को ही वाम सिद्धांत का अग्र विकास करने का श्रेय दिया जाता है।

यहां हम मार्क्सवादी चिंतकों और उस अंतःविरोध विरोधाभास की बात कर रहे हैं जिसे पश्चिम-वर्चस्वी परिदृश्य की छाया की तरह रेखांकित किया जाना जरूरी है। एडवर्ड सैड ने अमेरिका में जब अपने प्राच्यवादी सिद्धांत का निरूपण किया, तो उनके निशाने पर भी उत्तरआधुनिक चिंतन ही था। मार्क्सवादी और नवमार्क्सवादी चिंतन में भी उस प्राच्यवादी कुंठा की मौजूदगी हो सकती है इस संभावना को सैड समेत सभी नववाम चिंतकों ने देख कर भी अनदेखा किया है। संस्कृति उद्योग की बात करते ही नववाम चिंतन संस्कृति को पश्चिमी देशों पर चेतना मूलक उत्पादों की तरह व्याख्यायित करने लगता है इन उत्पादों पर पश्चिमी समाज का वर्चस्व साफ नजर आता है तीसरी दुनिया के 'नवोपनिवेशन' में इस संस्कृति-उद्योग की बड़ी केन्द्रीय भूमिका दिखायी देती है। यह नवोपनिवेशन, तीसरी दुनिया के सांस्कृतिक रूप में पश्चिमीकरण का मुख्य स्रोत हो जाता है जो देश पश्चिमीकरण के लिए राजी रहते हैं उन्हें आधुनिक और उत्तराधुनिक चेतना उत्पादों के नए प्रजातांत्रिक खपतकारों के रूप में बड़ी सांस्कृतिक मंडी का सदस्य समझा जाता है। तथापि नववाम पूरी अमरीकी चिंतक, संस्कृति उद्योग के मुख्य संकट के तौर पर अपने समाजों में पसर रहे विखण्डन को देखते हैं उस बहुलता व विविधता पर निगाह जमाते हैं जो निजी क्षेत्र तक ही सीमित न रहकर सार्वजनिक क्षेत्र में प्रवेश करता है और मार्क्सवाद समेत सभी विचारधारात्मक महाख्यानो के लिए खतरा बनता है। तीसरी दुनिया का 'नवोपनिवेशन' इस नववाम चिंतन में ही हाशिए पर है इस संदर्भ में और अरोनियो ग्राम्शी की प्रिजन नोटबक की बड़ी चर्चा की जाती है।

उसमें दोयम दर्जे के समाजों की आवाज को सुनने का जो सवाल उठाया गया है वह भी यूरोपीय समाज को ही केंद्र में रखकर विचार करता है। खेतिहर मजदूरों की आवाज की अनदेखी का सवाल तो पूरी दुनिया के लिए प्रासंगिक है पर वह यूरोप के अति-औद्योगिकरण से पैदा हुए संकट का एक उपेक्षित हाशिया है तीसरी दुनिया के जिन समाजों में अभी तक औद्योगिकरण भी पर्याप्त मात्रा में नहीं हुआ है। वहां इतना अतिरिक्त मुनाफा और पूंजी मूल्य होता ही नहीं कि वह अपने यहां के दोयम दर्जे में रख दिये गये जनसमूह की मुख्यधारा में वापसी का संतोषजनक इंतजाम कर पाये अतः तीसरी दुनिया के लिये इस तरह के संकट मुख्यतः आर्थिक और सामाजिक हैं, सांस्कृतिक नहीं कि उनका समाधान मानसिकता की तब्दीली जैसे चेतनामूलक उत्पाद से हो सके जिसका मकसद होता है दूसरों की आवाज को भी सुने जाने लायक मानना पश्चिम में नववाम चिंतन ऐसे सवाल उठाता है पर वहां इसका ताल्लुक मुख्यतः उनके अपने हाशिए पर खिसका दिये गए समाज से होता है। प्रवासी जनसमूहों की दोयम स्थिति तक मुख्यधारा के नववाम सिद्धांत में प्रवासी चिंतकों को आस-पास ही ठिठका रहता है जैसे एडवर्ड सर्ड हैं या हमारी गायत्री चक्रवर्ती स्पीवाक हैं जिन्होंने वहाँ के समाज के संदर्भ में सवाल उठाया कि क्या दोयम जनसमूह बोल भी सकते हैं? सर्ड के प्राच्यवाद के पश्चिमी परिदृश्य में आवाज उठाने की फिलिस्तीनी कोशिश की तरह देखा गया परंतु उस चिंतनधारा का भी बहुत विकास नहीं हो सका। फिलिस्तीनी आवाज को भी संभवतः इसलिए थोड़ा सुनाने लायक माना गया क्योंकि यहूदियों के सामूहिक नरसंहार से हाथ रंगे होने के कारण यूरोप का मनस फिलिस्तीन के मुद्दे पर गहरे में अपराध बोध का शिकार तो है ही, भले ही वह इसे स्पष्टतः स्वीकार करने से हमेशा बचता रहा है। लेनिन के द्वारा औद्योगिक पूंजीवाद के उच्चतम शिखर के रूप में साम्राज्यवादी पूंजी की व्याख्या के बाद का नववाम

परिदृश्य उत्तर-औद्योगिक दौर में प्रकट हुए संस्कृति उद्योग तक तो चला गया परंतु उसे पूंजी के नव साम्राज्यवादी चरण की तरह व्याख्यायित करने की हिम्मत दिखाने से बचता है। वह यह नहीं कहता कि उत्तर-औद्योगिक परिदृश्य में पनप रहा संस्कृति उद्योग गहरे में, तीसरी दुनिया की नवसाम्राज्यवाद के द्वारा पनपायी जाने वाली सांस्कृतिक गलामी के सरोकारों वाला है।

1968 के बाद का नववाम चिंतन मूलतः उत्तर औद्योगिक उत्पादन पद्धति के उच्च तकनीकी रूपों पर केंद्रित है। फ्रैंकफर्ट स्कूल के चिंतकों के अगले चरण की तरह काम करते यह उत्तर मार्क्सवादी अब संस्कृति उद्योग से मीडिया उद्योग व सूचना उद्योग तक चले आये हैं उत्तर आधुनिक विमर्शों के असर के कारण अब वे संस्कृति के चेतना उत्पादों को परंपरागत व आधुनिक धारणाओं के बजाय भाषा के उत्पादों की तरह देखने लगे। इससे अब विचारधारा और पक्षधरता जैसी बातें केंद्रीय नहीं रह गई है। हाशिये के समाजों या जनसमूहों की आवाज के भाषिक विमर्शमूलक उत्पाद तैयार कर लिए जाते हैं और उन्हें अभिव्यक्ति की आजादी के मानवाधिकार की तरह देखा जाता है, सुना नहीं जाता। बस किसी की ई-स्पेस में गूंजते हुए अपने भरोसे छोड़ दिया जाता है। स्पष्ट है कि इससे नव साम्राज्यवाद का सांस्कृतिक शिकंजा पूरी दुनिया में एक-दूसरे के विरोध में खड़ा करते हुए आसानी से कसने लगता है पर नववाम चिंतन के निशाने पर यह नवोपनिवेशन आज भी नहीं है। एक नजर दौड़ाकर देख सकते हैं कि यह मार्क्सवादी चिंतन दरअसल किन बातों पर अपना ध्यान केंद्रित करते हैं।

अंतोनियो ग्राम्शी का ध्यान उस सांस्कृतिक मंच पर केंद्रित है जो संस्कृति के उत्तर औद्योगिक चेतना-उत्पादों से पैदा होता है इस वर्चस्व की व्याख्या दरअसल उसके नव साम्राज्यवादी स्वरूप की तरह ही की जा सकती है। परंतु इस तरह की तृतीय विश्ववादी



सिद्धांतभूमि अभी अपनी शैशवस्था में ही है। जॉर्ज लुकाच इस नई तरह की संस्कृति में चेतना के एक वस्तु में और उसके बिकाऊ माल में बदल जाने को लेकर ज्यादा चिंतित नजर आते हैं अल्यूसे को लगता है कि संस्कृति के चेतना उत्पाद अब समाज में संरक्षित होने के चरण में पहुंच गए हैं यानी उनका इस्तेमाल नई तरह का संस्थाओं के द्वारा होने लगा सत्ता की राजनीति का सांस्थानिक तंत्र अब संस्कृति के चेतना उत्पादों का नियंत्रण करने लगा है। इस संदर्भ में रेमंड विलियम्स भाव तक के संरक्षित एवं संस्थानीकृत हो जाने की बात करते हैं। उनका मानना है कि इससे हमारा समाज सांस्कृतिक भौतिकवाद वाले चरण में दाखिल होता नजर आ रहा है। यह विमर्श के लगभग पूरी ही उल्टा घूमकर वृत्त बनाने जैसा लगता है। यानी मार्क्सवाद में जो भौतिकवादी संस्कृति से शुरू हुई थी वह अब सांस्कृतिक भौतिकवाद तक पहुंच गई है।

भाषामूलक भावसंरचनाओं के ही चेतना उत्पाद अब इस उत्तर मार्क्सवाद की मुख्य चिंता का विषय नहीं मिखाइल बाख्तिन इसे और आगे अर्थ-मीमांसीय भाषा उत्पादों की तरह देखने लगे हैं। इससे विश्वसमाज में मौजूद अंतर्विरोधों का द्वन्द्वात्मक रूप अब और भी अमूर्त तरीके का हो गया है। कहां तो मार्क्स अंतर्विरोधों के समन्वय के लिए सत्ता परिवर्तन जैसे होश इन्कलाब व्यवहारों की ओर देखते हैं और कहां ये बाख्तिन जैसे लोग हैं जो अंतर्विरोधों को संवादात्मक (डायलॉजिक) किस्म की अर्थमीमांसीय स्थिति में ले जा कर अपनी अपनी बात कह सकने की आजादी के द्वारा अंतः सम्मिलित होते देखते हैं सवाल पूछा जा सकता है कि क्या तीसरी दुनिया का नवसाम्राज्यवादी नवोपनिवेशन इस तरह के नये संवादात्मक किस्म के सांस्कृतिक भाषा-उत्पादों के द्वारा पराजित किया जा सकता है? स्पष्ट है कि यह पश्चिमी चिंतक अपने समाजों की

फिक्र कर रहे हैं और वही सीमित हो जाने से अब उनका वैश्विक परिप्रेक्ष्य धुँधला पड़ने लगा है अब वहां एक नए वाम चिंतक उभरे हैं स्लोवाय जिजेक वे मार्क्सवाद की व्याख्या ही लेनिनवादी मनोविश्लेषण की मदद से करते हैं। वे भारत आए तो उनसे प्राच्यवाद पर अपने विचार प्रकट करने के लिए कहा गया उन्होंने कहा कि पश्चिम के मनस में जिस तरह वर्चस्ववाद गहरी जड़ें जमाये हैं, उसी तरह तीसरी दुनिया के मनस में गुलामी की मानसिकता और उससे मुक्ति की बात गहरें में पड़ी है। ये दो तरह के मनस सायकी हैं जिनको उनके अपने इतिहास बोध के द्वारा खाद पानी मिलता है अतः पश्चिम पर सवाल उठाने के साथ-साथ तीसरी दुनिया को अपने गिरेवान में झांकना होगा। यानी जो जमीनी हालात हैं उन्हें अब हमें मनोविश्लेषणात्मक व्याख्या के द्वारा समझने और हल करने का प्रयास करना होगा। स्पष्ट है कि यह सारा नववाम व उत्तरवाम परिदृश्य एवं चिंतन के मामले में पश्चिम वर्चस्व बना हुआ है और उसमें तीसरी दुनिया की नमाइंदगी के लिए बहत माकूल हालात नहीं हैं।

ऐसे में हमें भारत के द्वारा खोली गयी उस संभावनाओं की ओर दोबारा देखना होगा जिसे समाजवाद की ओर उन्मुख नेहरू ने तीसरी दुनिया के गुटनिरपेक्ष गठबंधन के प्रतिरोधी रूप को खड़ा करते हुए एक विकल्प बनाने का प्रयास किया था। उस दौर में वह कमजोर था पर वह आज भी संभावनापूर्ण तो है ही आज की राजनीतिक अवचेतन से तो बेहतर है जो वर्चस्वी दुनिया को द्विमाजित शिज़ोफ्रेनिक बनाता है और दुनिया को वैश्विक अचेतन से चेतन की सतह पर अवांछित सामग्री वाले स्फोटो की तरह फूटता पाता है यों जेम्सन को यह भी लगता है कि यूटोपिया अंत भी अगर वहीं संभव है तो इसी दुनिया के साथ खड़े होने में है।

संपर्क : 9814658098

## डॉ. गोपाल राय का आलोचना-कर्म एवं साहित्येहास लेखन

पनम सिन्हा

डॉ. गोपाल राय ने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डॉ. नगेन्द्र, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, बच्चन सिंह आदि के इतिहास लेखन की परंपरा को समृद्ध किया है। जी हार्टमैन ने लिखा है, 'साहित्य का इतिहास का बौद्धिक अनशासन के रूप में ही नहीं बल्कि साहित्य की रक्षा के लिए भी आवश्यक है।'।

उनके द्वारा लिखित 'हिन्दी उपन्यास का इतिहास' (2002), हिन्दी उपन्यास का विकासात्मक इतिहास है। रेने वेलेक ने लिखा है कि 'साहित्य के इतिहास का प्रयोजन है साहित्य की प्रगति, परंपरा, निरंतरता और विकास की पहचान करना।' (रेने वेलेक—डिस्क्रिमिनेशन्स, पृ. 143) 'हिन्दी उपन्यास का इतिहास' के ब्लर्ब की पंक्तियाँ हैं—'साहित्य के इतिहास में पुस्तकों की प्रकाशन-तिथियों की प्रामाणिकता के साथ-साथ यह भी जरूरी होता है कि सम्बद्ध विधा के विकास की धाराओं की सही पहचान की जाए। विकास ऐतिहासिक काल में ही होता है और इतिहास में प्रामाणिक तथ्यों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। कोशिश यह की गई है कि यह पुस्तक हिन्दी उपन्यास का मात्र 'इतिहास' न बनकर 'विकासात्मक इतिहास' बने। उपन्यास पर काम करनेवाले विद्वान या शोध छात्रों के लिए इस पुस्तक का अध्ययन अपरिहार्य होगा। डॉ. राय उपन्यास विधा के प्रामाणिक एवं विशेषज्ञ आलोचक हैं इसका पुष्ट प्रमाण उनके द्वारा लिखित 'उपन्यास की संरचना' (2006) पुस्तक है। आज जब किसी विधा पर सैद्धांतिक आलोचना, विशेषकर संरचना पर पुस्तकों का अभाव-सा हो गया है, ऐसे में 'उपन्यास की संरचना' पुस्तक बहुत बड़ी कमी की पूर्ति करती है। इस पुस्तक की 'औपचारिक' शीर्षक भूमिका में डॉ. राय का कथन है, 'उपन्यास का 'रूप' चाहे जितना भी अमूर्त और 'पाठ सापेक्ष' हो, वह होता जरूर है। उसकी संरचना को समझना आलोचक के लिए चुनौती अवश्य है, पर वह सर्वथा पकड़ से बाहर है। ऐसा नहीं कहा जा सकता। अंग्रेजी और यरोप की अन्य भाषाओं

में इसके प्रयास हुए हैं और इस विषय पर अनेक पुस्तकें उपलब्ध हैं। पर उन आलोचकों ने स्वभावतः अपनी भाषाओं के उपन्यासों को ही अपने विवेचन का आधार बनाया है। यहाँ तक कि भारतीय साहित्य में उपलब्ध कथा-रूपों की ओर उनकी दृष्टि नहीं गयी है। इस कारण उनके विवेचन में एक अधुरापन भी दिखायी पड़ता है। हिन्दी आलोचना भी उपन्यास की ओर विगत कुछ दशकों से ही उन्मुख हुई है। पर आलोचकों की दृष्टि जितनी उनके कथ्य पर रही है, उतनी उसकी संरचना पर नहीं। फुटकल रूप में यत्र-तत्र उपन्यास की संरचना पर कुछ विचार हुआ दिखायी दे सकता है, पर व्यवस्थित रूप में कोई उल्लेखनीय प्रयास मेरी नजर में नहीं आता।...हिन्दी आलोचना में 'रूप' और 'वस्तु' को लेकर बहुत 'रगड़ा' है, इसका एक कारण उपन्यास की संरचना के विषय में आलोचकों का अपरिचय भी है। वस्तुतः 'रूप' और 'वस्तु' एक-दूसरे से अभिन्न और परस्परावलम्बी हैं। 'रूप' के भीतर ही 'संरचना' की समस्या निहित है। प्रकृति अपने वस्तु-रूपों की रचना किस प्रकार करती है, यह हम नहीं जानते, पर मनुष्य अपने वस्तु-रूपों का किन उपादानों से और किस प्रक्रिया से निर्माण करता है, इसकी तलाश संभव है। उपन्यास को ध्यान में रखें तो कथ्य, विजन, संवेदना, विचार, कथा, पात्र, परिवेश, भाषा आदि उसके प्रमुख उपादान हैं। इन्हीं से उपन्यास बनता है। इन्हीं का संयोजन संरचना है। उपन्यास किस प्रकार 'बनता' है, पाठक की चेतना में वह कैसे 'रूप' ग्रहण करता है। इस किताब में इसी की तलाश हमारा लक्ष्य है।' (पृ. 7-8-9)

आज भी उपन्यास की भाववादी एवं विधेयवादी आलोचना की ही प्रधानता है। डॉ. राय ने उपन्यासों की आंतरिक संरचनात्मक जटिलताओं का उद्भेदन करते हुए वस्तु एवं रूप दोनों को महत्त्वपूर्ण माना है। साथ ही, उपन्यास की संरचना में अंग्रेजी मॉडल के साथ संस्कृत मॉडल को भी प्रधान माना है। उपन्यास-चिन्तन में संतलन के लिए उन्होंने अपनी निजी परंपरा

तथा प्रवृत्ति की ओर ध्यानाकर्षित किया है।

'हिन्दी कथा साहित्य और उसके विकास पर पाठकों की रुचि का प्रभाव' (1966) के लिए उन्होंने यत्नपूर्वक जो सामग्री जुटाई थी, उसे हिन्दी उपन्यास कोश' के दो खण्डों में प्रकाशित किया। प्रथम खण्ड (1968) में 1870 से 1917 तक के उपन्यासों की और द्वितीय खण्ड (1969) में 1918 से 1936 तक के उपन्यासों की प्रामाणिक सूचना है। डॉ. गोपाल राय ने लिखा है, 'लगभग चार वर्षों तक मैं आर्यभाषा पुस्तकालय (नागरी प्रचारिणी सभा) काशी, राष्ट्रीय पुस्तकालय, कलकत्ता, चैतन्य पुस्तकालय, पटना, पटना कॉलेज और पटना विश्वविद्यालय पुस्तक, पटना में संग्रहीत कथापुस्तकों की छानबीन करता रहा। मैंने उक्त पुस्तकालयों में उपलब्ध समस्त कथापुस्तकों के आवरण पृष्ठों एवं मुख्यपृष्ठों तथा भूमिकाओं तथा भूमिकाओं की प्रतिलिपियों तैयार कीं, जो मेरे पास सुरक्षित हैं।' (हिन्दी उपन्यास कोश, खण्ड-1, 1968, पृ. 9) क्या उनकी इस साधना की कद्र हिन्दी जगत ने की? अपने को चर्चा में लाने के लिए न तो उन्होंने कभी कोई शगूफा छोड़ा, न गुटबंदी की और न गुटबंदी में शामिल हुए, न मुँहदेखी कहा न लिखा। यह हिन्दी का दुर्भाग्य रहा है कि इसके लिए अपने जीवन को खपा देने वाले, अपनी हड्डियाँ गला देने वाले किसी साहित्य-साधक को उसके जीवनकाल में वह सम्मान नहीं मिला, जो मिलना चाहिए। डॉ. गोपाल राय जी कर्म पर भरोसा करते थे। वही उनका तप था। इस तप ने उन्हें ताप भी पहुँचाया। उन्होंने अपने आपको साहित्य-साधना में ही डूबा कर त्राण पाया। यहाँ उनके प्रिय रचनाकार अज्ञेय के उपन्यास 'नदी के द्वीप' के भुवन की पंक्ति याद आती है, 'लेट मी स्ट्यू इन माइ ओन जूस'। निर्मला जैन का कहना है, 'लेकिन मैं जितना गोपाल राय को जानती हूँ वह इस बारे में नहीं सोचते होंगे कि उन्हें क्या मिला और क्या नहीं मिला। वह बड़े ही कर्मठ व्यक्ति हैं और वह केवल काम करना जानते हैं।'

साहित्य में उनका योगदान कम नहीं है। इस बात से कोई इनकार नहीं कर सकता। अगर किसी तरह के श्रेय से वह वंचित रहे हैं तो उसके पीछे कुछ राजनीतिक या प्रोफेशनल कारण हो सकते हैं। उनके व्यक्तित्व की वजह से उन्हें साहित्य में श्रेय नहीं मिला मैं नहीं मानती।...गोपाल राय में एक तरह का समर्पण का भाव है कि कैसे साहित्य को कुछ नया दिया जाए। काम के प्रति निष्ठा उनमें भरपूर है, इसलिए आज उनका महत्त्व है। इस तरह का मुकाम पाने के लिए जरूरी है कि आज के युवा आलोचक भी अपने आपको पूरी तरह साहित्य को समर्पित कर दें और फिर देखें कि आलोचना की धार कैसे तेज होती जाती है।' (आलोचना के स्वर. सं. सत्यकेत सांकत. प. 126-127-128)

अधिकांश आलोचकों ने माना है कि उपन्यास पर डॉ. गोपाल राय का काम निर्विवाद रूप से महत्वपूर्ण है। जिस समय डॉ. राय ने पं. गौरीदत्त कृत 'देवरानी जेठानी की कहानी' (1870) को हिन्दी के प्रथम उपन्यास के रूप में प्रतिष्ठित कराया, उस समय अधिकांश लोग लाला श्रीनिवास दास कृत 'परीक्षा गुरु' (1882) को ही हिन्दी के प्रथम उपन्यास के रूप में स्वीकार करते थे। उन्होंने इस लुप्तप्राय उपन्यास की भूमिका लिखकर उसे नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित कराया और उसे हिन्दी के प्रथम उपन्यास के रूप में प्रतिष्ठित भी कराया। उन्होंने उपन्यास की कुछ परिभाषाएँ तय कीं, उन परिभाषाओं की सबसे पहली शर्त यह थी कि उपन्यास की कथा-मौलिक होनी चाहिए। आचार्य शुक्ल साहित्यिक कोटि में परिगणित होने के लिए उपन्यास में जीवन के यथार्थ का समावेश अनिवार्य मानते थे। उनका स्पष्ट मानना था कि सिर्फ चमत्कार एवं कल्पना से युक्त, जीवन के यथार्थ से दूर उपन्यास साहित्य की कोटि में आने लायक नहीं है। डॉ. राय ने आचार्य शुक्ल के इस कथन की चरितार्थता भी 'देवरानी जेठानी की कहानी' शीर्षक उपन्यास में देखी। डॉ. गोपाल राय

ने ऐसे ही 'देवरानी-जेठानी की कहानी' को हिन्दी का प्रथम उपन्यास नहीं मान लिया बल्कि कथ्य, विजन, चरित्र दृष्टि, शिल्प और भाषा के निकष पर कसने के बाद उन्होंने यह निष्कर्ष दिया है। 'हिन्दी उपन्यास का इतिहास' की 'प्रस्तुति' शीर्षक भूमिका में डॉ. गोपाल राय ने लिखा है, 'बीसवीं शताब्दी के अन्त के साथ हिन्दी उपन्यास की उम्र लगभग 130 वर्ष की हो चुकी है। बड़े ही बेमालूम ढंग से 1870 ई. में पं. गौरीदत्त की देवरानी जेठानी की कहानी के रूप में इसका जन्म हुआ। जिसकी तरफ लगभग सौ वर्षों तक किसी का ध्यान भी नहीं गया। इस दृष्टि से सौभाग्यशाली लाला श्रीनिवास दास का 'परीक्षा गुरु' (1882) रहा जिसे हिन्दी का प्रथम उपन्यास होने का गौरव प्राप्त हो गया और आज भी इस लकीर को पीटने वालों की कोई कमी नहीं है। प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक ने पुष्ट तर्कों के आधार पर देवरानी जेठानी की कहानी को हिन्दी के प्रथम उपन्यास के रूप में स्वीकार किया है और 1870 ई. से 2000 तक के हिन्दी उपन्यास के ऐतिहासिक विकास को समझने का प्रयास किया है। (पृ. 9) इस विषय को अधिक स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं 'देवरानी जेठानी की कहानी' की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें पहली बार परंपरा से हटकर कथा कहने का प्रयास किया गया है। कथाकार ने पुराने आख्यान लेखकों की तरह किसी राजा, सेठ, सामंत या शूरवीर की कथा न कहकर साधारण मध्यवर्गीय वैश्य परिवार की देवरानी जेठानी की कहानी कही है।...यथार्थ के प्रति कथालेखक का आग्रह स्पष्ट है। वह अपनी कथा को अधिक से अधिक विश्वसनीय और जीवन का पर्याय बनाना चाहता है।...देवरानी जेठानी की कथा को विश्वनीय और यथार्थवादी बनाने के लिए उस प्रणाली का प्रयोग किया गया है जो हिन्दी के लिए सर्वथा नयी थी।' (पृ. 24-25) विभिन्न बिन्दुओं पर 'देवरानी जेठानी की कहानी' उपन्यास को परखते हुए डॉ. गोपाल राय का स्पष्ट कथन है. अतः विवेकसम्मत

रूप में देवरानी जेठानी की कहानी को ही हिन्दी उपन्यास का प्रस्थान बिन्दु मानना समीचीन है।' (हिन्दी उपन्यास का इतिहास, पृ. 28)

डॉ. गोपाल राय का महत्त्वपूर्ण काम उपन्यास विधा पर है। पर उन्होंने हिन्दी कहानी का इतिहास तीन भागों में लिखकर हिन्दी कहानी की आलोचना एवं इसके इतिहास लेखन के क्षेत्र में अद्वितीय कार्य किया है। 'हिन्दी कहानी का इतिहास'-1(2008) में 1900 से 1950 तक की हिन्दी कहानियों का इतिहास है। 'हिन्दी कहानी का इतिहास'-2(2011) में 1951 से 1975 तक की हिन्दी कहानियों का इतिहास है। 'हिन्दी कहानी का इतिहास'-3(2014) में 1976 से 2000 तक की कहानियों का इतिहास है। उन्होंने तीन भागों में प्रकाशित इन पुस्तकों में कहानी के वस्तु एवं शिल्प दोनों पर विचार किया है। प्रत्येक कहानी पढ़ने के बाद उन्होंने विश्लेषण किया है। साहित्येतिहास-लेखन का कार्य अत्यन्त दुरुह एवं उत्तरदायित्वपूर्ण होता है। उसमें 'वस्तुपरक ज्ञान और आत्मपरक कलाभिरुचि' दोनों का संतुलन आवश्यक है। इस क्षेत्र में साहित्यकार प्रवेश नहीं करना चाहते हैं। 'समीक्षा' (अक्टूबर-दिसम्बर, 2008) के संपादकीय में डॉ. राय लिखते हैं, 'पर यह काम बहुत कठिन है, यह मैं हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने के क्रम में समझ रहा हूँ और मुझे लगता है कि इस कठिनाई का सामना न कर पाने की विवशता ने ही हिन्दी विद्वानों को इतिहास लेखन की अनुपयोगिता का फतवा देने को बाध्य किया है।' 'हिन्दी कहानी का इतिहास' में उन्होंने कहानीकारों एवं उनकी कहानियों का विवेचन तत्कालीन परिस्थितियों के आलोक में किया है। जिन कहानीकारों की कहानियाँ उपलब्ध नहीं हो पायीं उनका भी नामोल्लेख अवश्य किया है। साहित्येतिहास-लेखन के क्रम में सामग्री संचयन अत्यन्त कठिन काम है। सामग्रियों की सरक्षा की कोई मकम्मल

सरकारी व्यवस्था तो है नहीं। साहित्यिक आलोचना में कृतियों का अध्ययन उनके कलात्मक गुण-दोषों के आधार पर किया जा सकता है, किन्तु साहित्येतिहास-लेखन के क्रम में डॉ. राय इतिहासकार से आलोचक एवं आलोचक से इतिहासकार की भूमिका में निरंतर आवाजाही करते हैं। रेनेवेलेक अस्टिनवारेन ने कहा है, 'साहित्य के इतिहास को साहित्य भी होना चाहिए और इतिहास भी।' हिन्दी कहानी के इतिहास-लेखन में डॉ. राय ने उर्दू, भोजपुरी, मैथिली, राजस्थानी भाषाओं की कहानियों को हिन्दी की सर्वांग भाषा की कहानियों के रूप में स्वीकार करते हुए उनके विकास-क्रम पर विचार किया है। उनका कहना है कि 'मेरी मान्यता है कि इन भाषाओं के स्वतंत्र अस्तित्व को चुनौती दिये बिना ही इनके साहित्य को हिन्दी साहित्य के इतिहास में शामिल किया जाना चाहिए। इसके दो फायदे होंगे। यदि एक तरफ इनके आपसी अलगाव का भाव दूर होगा तो दूसरी तरफ इनके साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन से देश की भावनात्मक, वैचारिक और सांस्कृतिक चेतना का पता लगेगा।' (हिन्दी कहानी का इतिहास-2, गोपाल राय, पृ. 10) हिन्दी कहानी के इतिहास में उन्होंने कहा है कि कहानी में तीन बातें और हैं—समय के संवाद, संवेदनात्मक तीव्रता के क्षण और सम्प्रेषणीयता। इन्होंने अपने समय की महत्त्वपूर्ण कहानीकार चन्द्रकिरण सौनरेक्सा का उत्खन्न किया एवं उपनपर अत्यंत सारगर्भित लिखा। उन्होंने ऐसे कई कहानीकारों का उत्खनन किया जिसका कालान्तर में कोई नामलेवा नहीं था।

मुख्तसर इतना कि डॉ. गोपाल राय के लिए लेखन उनके जीवन का पर्याय रहा। यही कारण है कि जब वे बीमार होते थे और उनका लिखना नहीं हो पाता था वे बेचैन हो उठते थे, 'लिखना-पढ़ना बंद हो गया है अब और जीकर क्या करूँगा।'

संपर्क-9470444376



## क्या आलोचना के लिए भी कोई जगह है

सेवाराम त्रिपाठी

‘जिन्दगी और कलम के बीच फासला लेखक के कद को छोटा कर देता है। वह बाजार में बिक्री के माल की तरह कहीं पर भी बेचा और खरीदा जा सकता है। लेखक के औजार उसके शब्द हैं, जिनसे वह आत्मा का मंदिर बनाता है और मंदिर बेंचे नहीं जाते।’ (चंद्रबली सिंह)

कृपया आलोचना को मूरी-भाजी न बनाया जाए। गंभीर आलोचक सामाजिक, सांस्कृतिक स्थितियों की व्यापक पड़ताल करता है। किसी की आलोचना करते वक्त स्वयं भी जख्मी होता है। आलोचना रचनात्मक मूल्यांकन के साथ सभ्यता समीक्षा भी है। वह अंतर्दृष्टि और विजन का संतुलन भी है। आलोचना, आलोचक का चीत्कार भी है और समाज को बदलने का सपना भी।

आलोचना कभी भी सुविधाजनक नहीं होती। वह बड़ों-बड़ों की कलाई भी खोल देती है। आलोचना, आलोचक से गंभीर ईमानदारी और निष्ठा की मांग करती है। वह कोई हवा-हवाई चीज नहीं है। न हंसी में उड़ जाने वाला कोई वाक्या। आलोचना हमेशा प्रश्नों का सामना करती है। न तो रचनाकार इतना बड़ा है कि वह सही आलोचना को छलांगकर या उसे क्रास कर या अनदेखा कर आगे बढ़ जाए। वहीं आलोचना भी ऐसी नहीं होती कि उसके सामने सामाजिकता की, रचनात्मकता की चुनौतियां न हों। जाहिर है कि दोनों के लिए संतुलन निष्ठा और विजन की पर्याप्त जरूरत होती है। उसे जीवन जगत का, सभ्यता और संस्कृति का दुनिया का समूचे ज्ञान-विज्ञान की जरूरत दोनों को है, लेकिन दोनों को आवश्यक संतुलन की रचना और आलोचना दोनों एक दूसरे से सीखते हैं और सिखाते भी हैं। हमारे सामने बार-बार प्रश्न यह होते हैं कि आलोचना के लिए कौन का इलाका है, कौन सा स्थान है और क्या कोई ऐसा स्पेस बचा है। उसके उड़ने के पंख काट दिए गए हैं। मैं रचना के परिक्षेत्र में रचना की प्रक्रिया में आलोचना के लिए थोड़े से स्थल की तलाश करता रहा। सब जगहों में उसका स्थान सिकड़ गया है। वर्तमान

राजनैतिक सिनेरियों में प्रजातंत्र के लिए, आजादी के लिए, मनुष्यता के लिए मूल्यों के लिए, सत्य और सत् आचरणों का थोड़ा सा स्थान ढूँढना कठिन हो गया है। हम इतने लफ्फाज अनुदार, तिकड़मबाज, जलवे और जुमलेवाज हो गए हैं कि आलोचना क्या रचनात्मकता के लिए भी स्थान देने के पक्ष में नहीं हैं। अब तो भजन-कीर्तन और यशो गान के अनेक क्षेत्र खुल गए हैं। यहां आलोचना से मेरा आशय केवल रचनात्मकता के परिसर से नहीं है बल्कि जन्दिगी के विराट् रूपाकारों, स्थितियों और संभावनाओं से भी है।

हम आलोचना की सामाजिकता के बीच शायद नहीं हैं। दुर्भाग्य है कि हमारी सामाजिक चेतना निरंतर कुंद हो रही है। मानवीय विकास के लिए हम टकराव से बचने की दिशा में हैं। सबने एहसास कर लिया है कि सत्ता अपना बाजार और सूचना संजाल भी बनाती है। सत्ता भ्रष्टाचार के बड़े जाल में अपने को सुरक्षित महसूसती है। सहमति, सहिष्णुता और प्रतिवाद धीरे-धीरे अलोप हो रहे हैं। एक तरह के परमसुख में हम फंसा दिए गए हैं। हमारे समाज में लगता है कि आलोचना के लिए लगभग कोई जगह नहीं है। सत्ता तरह-तरह के खेल में बिंधी है। उसका मुख्य खेल है सत्ता की गिरावट को हर हाल में रोकना, इसीलिए सत्ता ने आलोचना की जगह लगभग छीन ली है। वह असहमतों को हर हाल में सहमत बनाने के लिए तुली हुई है। सहमत बने चाहे जिस तरह से बने। देश का प्रधान सेवक हर नागरिक से अपने सूचना के महाजाल के द्वारा जुड़कर अपने मन की बात करना चाहता है। उसे जनता की तकलीफों से कोई वास्ता नहीं। पंकज चतुर्वेदी की एक कविता बरबस याद आ रही है- 'हमारे समय की/ यह नहीं है मुश्किल/ कि उम्मीद नहीं है/ बल्कि यह है कि/ हत्यारे से उम्मीद है/ घर से दतर / दतर से बाजार तक/ लोग उम्मीद करते हैं/ कि जो काम/ कोई नहीं कर पाया/ हत्यार करेगा/ यहां तक कि मां भी आ जाती है/ उम्मीद के इस चंदोवे तले।' (पहल-115. पष्ठ-89) मझे

किसी के कहने की ध्वनि याद आ रही है कि नामवर सिंह हिन्दी के बहुमान्य आलोचक हैं, हालांकि उनके जीते जी ही भूसे की मांग वास्तविक अन्न से ज्यादा बढ़ चली थी। लोकतांत्रिकता का टेढ़ा पकड़ लिया गया था, तब भी आलोचना के लिए कुछ जगह बची थी, अब तो पुलवामा के विरोध में की गई कार्रवाई अच्छी होने के बावजूद सहज उठ रहे प्रश्नों की हत्या की शर्मनाक कार्रवाई की जा रही है। समूचा विपक्ष सांस बांधे खड़ा है और सत्ता मात्र ललकार रही है। सत्ता हमारे समाज में उठने वाले सभी प्रश्नों को चबाते हुए समूचे संवाद खत्मा करने की फिराक में है। यह सत्ता का एक नया टर्न है, जो शर्मनाक भी है और हम सभी को चिन्ताओं से भर देने वाला भी है। सत्ता पूरी तरह से बेपरवाह है। निर्लज्ज है। वह हर हाल में केवल हांकने में तली है।

हम परम अराजकता के दौर में हैं। विद्वान ही नहीं तथाकथित परम विद्वानों का जमघट लगा है। ज्यादातर ने यह मान लिया है कि आलोचना का मतलब प्रशंसा है। लेखक ने चाहे जैसा लिखा हो-उसकी पीठ ठोकिए, वाह-वाह कहिए, अन्यथा अपना रास्ता नापिए। भाषा, व्याकरण और हिज्जों पर अब तो बात करने का रिवाज ही नहीं बचा। बड़े-बड़े अखबार और पत्र-पत्रिकाओं में अराजकता का जलवा पसर गया है। यदि अखबार हिन्दी का है, तब भी अखबार का मालिक पत्र में एकाध पेज अंग्रेजी का गांज ही देता है, क्योंकि उसे हर हाल में पब्लिसिटी की छौंक चाहिए, उसे हर हालत में समाचार पत्र का अनंत विस्तार चाहिए। यही हाल टीवी चैनलों में चलने वाले सीरियलों का भी है। टीआरपी बढ़ाने के चक्कर में वह किसी भी विषय को अनंतकाल तक खींचते हैं। चाहे सास भी कभी बहू थी, कसौटी जिन्दिगी की, बालिका वधू, उतरन, ये हैं मोहब्बतें, तारक मेहता का उल्टा चश्मा, सीआईडी, और ये रिश्ता क्या कहलाता है, आदि। कहीं मैंने एक स्थान पर पढ़ा था- 'एक समय था जब

मंत्र काम करते थे/ उसके बाद एक समय आया/ जिसमें तंत्र काम करते थे/ फिर समय आया/ जिसमें यंत्र काम करते थे/ आज के समय में षड्यंत्र काम करते हैं।' यह एक सामान्य टीप नहीं है। इसके बहुत गहरे अर्थ हैं। सत्ता चाहती है कि उसके किसी काम पर हस्तक्षेप न किया जाए। उसकी किसी कीमत पर आलोचना न की जाए। उसका केवल गुणगान हो और उसके हामियों और हांजियों की पलटनें खड़ी हों। यह हमारे समय में फैलाई जा रही एक नई उत्तेजक धमक है। इसका नशा बनाया जा रहा है और एक दहशत भी पैदा की जा रही है। क्या हो गया है हमें? इधर एक राजनैतिक फिजा विकसित हुई है। उसमें सत्ता के पास विपक्ष के लिए, उसके प्रश्नों के उत्तर देने के लिए शायद कोई जगह नहीं है। सत्ता विपक्ष को श्रीहीन, कमजोर और बकवास मानती है। सत्ता के पास केवल अगड़म-बगड़म की बहार है। लीपापोती के शामियाने और बड़े-बड़े 'कटआउट' होर्डिंग लगाई जा रही है। वहां केवल जनतंत्र को राग अघोर भैरव में गाया जा रहा है। विपक्ष पर निरंतर हमले किए जा रहे हैं यानी उल्टा चोर कोतवाल को डांटे। जनतंत्र की सबसे बड़ी कीमत यही है कि उसमें पक्ष और विपक्ष दोनों हों। विख्यात तथ्य है कि जनतंत्र विपक्ष को खारिज नहीं करता बल्कि उसके महत्व को स्वीकारता है। इधर लच्छेदार भाषा के टॉवर बनाए जा रहे हैं ताकि लोगों को भ्रमाया जा सके। उन्हें नए-नए सूचना संजालों में स्थान देकर अपने अनुकूल बनाया जा सके। उनमें एक हवा बांधी जा सके। यदि देश दुनिया और समाज के संदर्भ में विपक्ष ने संदर्भित प्रश्न उठाए हैं तो उनका सटीक उत्तर दिया जाना चाहिए। मात्र गोलमोल बातें घुमाने से क्या फायदा? सत्ता की घुमावाजी को जनता नहीं मानती। वह उत्तरों से ही कायदे से समझ सकती है कि कौन 'पाक' साफ है और कौन 'नापाक'। ऐसा नहीं है कि अहंकार सत्ता में ही आया है। साहित्य और सांस्कृतिक फिजाओं में भी वह भरपूर है।

जोड़-जुगाड़ और गुटबाजी के चलते ही स्तरहीनता ने अपने पांव पसारे हैं। प्रदूषण राजनीति भर में नहीं है। वह साहित्य और सांस्कृतिक फिजाओं में है। वह तथाकथित धर्म के अखाड़ों में भी अपने-अपने अवतारों और रूपाकारों में निवास करता है, वहां भी कर्मकाण्ड निरंतर बढ़े हैं। ताज्जुब है कि प्रकाशक और लेखक भी मार्केटिंग कर रहे हैं और ब्राण्डिंग भी। यह सिलसिला अभी निरंतर प्रोत्साहित होकर नई-नई कार्रवाईयां करेगा क्योंकि लज्जा और शर्म धीरे-धीरे हमारे समय से विदा हो रहे हैं। इसमें लेखकीय दायरे बढ़ाए जाने के उद्देश्य हैं। पता ही नहीं चलता कि आलोचना करने से कौन कब बुरा मान जाए? आलोचना का मतलब रचना का वस्तुगत मूल्यांकन ही होता है, मात्र अच्छाई या बुराई नहीं। अब कोई न सीखने के लिए तैयार है न सुझाव के लिए। सब प्रसिद्धि के लिए हवा में उड़ रहे हैं। यह प्रचार-प्रसार और विज्ञापन की दुनिया का दौर है। झूठ-महाझूठ के सामने 'सच' बार-बार कुचला जा रहा है। उसकी हत्या तक की जा रही है। राजनीति ने तो ज्यादातर सच से बाहर रहने की कसम खा ली है। वहां तिकड़वाजी, लुभावने वादे, चमकदार नारे और सत्ता का व्यापक शंखनाद हो रहा है। अराजकता का सिरा यहां से पकड़ते हैं तो पता नहीं वह कहां-कहां तक सरकता हुआ चला जाता है। भ्रष्टाचार की बढ़त हर जगह और हर खेमे में है। लगता है भ्रष्टाचार से किसी को अंदरूनी परहेज नहीं है। केवल दिखावे के लिए ही उसका विरोध है।

एक पुख्ता तथ्य यह है कि जो भी गुटबाजी और चमक-दमक से दूर है, उसे निरंतर किनारे लगाया जा रहा है। यह एक नई फिजा का रासायनिक तत्व है। अराजकता निरंतर फैलती चली जाएगी। जिसके मन का नहीं होगा-वह 'कन्फ्यूजन' के रास्ते से सबकी धुलाई करने में जुट जाएगा। चाटुकारिता का इतना बुखार चढ़ा है कि मीडिया सत्ता को प्रसन्न करने में उसके दलालों जैसी भूमिका में आ गया है। यह एक

अकथ कहानी है। कबीर ने कहा था कि 'इक दुइ होय उन्हें समुझावौं, केहि समुझावौं सब जग अन्धा'- कहने का तात्पर्य यह है कि जब समूचे कुएं में भांग घुल गई हो तो नशे से कैसे बचा जा सकता है? बड़े उदासी भरे लहजे में मिर्जा गालिब ने कहा था कि-“रहिए अब ऐसी जगह चलकर जहां कोई न हो/ हम-सुख/ न कोई न हो/ और हमजबाँ कोई न हो/ बेदर-ओ-दीवार सा इक घर बनाना चाहिए/ कोई हमसाया न हो और पासबां कोई न हो।’ यहां एक दृष्टि पैदा होने का खतरा पैदा हुआ है कि कुछ लेखक आलोचना को एक दम भूसा मानने के फेर में हैं। जैसे उसका कोई अस्तित्व ही नहीं है। उनकी नजर में आलोचना वह है, जो उन्हें। प्रतिष्ठित करे। उनका मान सम्मान बढ़ाए और उन्हें चमकदार स्थान दिलाए। जाहिर है कि रचना और आलोचना एक दूसरे से सीखती भी है और सिखती भी है। न आलोचक साहित्य का दारोगा होता है, न लेखक कहीं की तोप। दोनों की आपसी समझ-बूझ ही सही रचनात्मकता का रास्ता तैयार करती है। हमारे जनतंत्र में रचना की भी जगह है और आलोचना की भी। इन दोनों के आपसी संघर्ष, आपसी सहमति और समन्वय से ही एक रचनात्मक फिजा निर्मित हो सकती है। मुक्तिबोध ने इसे 'मैत्रीदर्शन' कहा था। मुझे लगता है कि इस पक्ष पर निरंतर विचार-विमर्श होना चाहिए। यदि लेखक या आलोचक संघर्षों के रास्ते से नहीं आते तो उनमें एक गुमान पैदा होता है। रचना या आलोचना कोई टहलना-घूमना नहीं है। कोई बैठे-ठाले का धंधा भी नहीं है। वह जिन्दगी के संघर्षों और तापों से बना है। रचना या आलोचना कोई ऐसा वैसा दिखाऊं जादू नहीं है, जो लोगों को भरमाये। वह तो तलवार की धार पर धावनो है। रचना या आलोचना ड्राइंग रूमों से अस्तित्व में नहीं आती। वह जनजीवन के संघर्षों और तापों से ही अपना आकार ग्रहण करती हैं। कबीर, प्रेमचंद, निराला, मुक्तिबोध, नागार्जुन और फणीश्वर नाथ रेणु जैसे यहीं से अपना आकार बनाते हैं। तमाम दनिया में

ऐसे अनंत उदाहरण हैं। यह दृष्टि अनवरत जारी रहेगी। यदि टहलने, घूमने और चमक-दमक से रचना या आलोचना पैदा होती है तो वहां बड़प्पन के नए-नए कलश कंगूरे बनने लगते हैं। मुझे लगता है कि शब्द जिन्दगी के ताप से और खून से पैदा होते हैं। यदि उसमें तड़प है, वह स्वीकार और अस्वीकार के बीच से निकला है। वह जिन्दगी की भट्टी से आया है तो वह किसी में भी जज्बा पैदा कर सकता है। दूसरे तरह के नेता, अभिनेता या लेखक पता नहीं जिन्दगी की सच्चाइयों को कितने रोमान में या हल्के से लेते हैं कि वे जिन्दगी को कोई आसान चीज मानकर उससे व्यवहार करना शुरू कर देते हैं। यहां मुझे प्रसिद्ध कवि पाब्लो नेरूदा की एक कविता स्मरण हो आई- 'अब तुम देखोगे कौन है हम और क्या सोचते है हम/ अब तुम देखोगे हम क्या है और क्या होंगे।' रचना और आलोचना दोनों में एक बहुत बड़ा विवेक काम करता है। एक विजन काम करता है- वहां स्वीकार और अस्वीकार के बीच से रास्ता बनाया जाता है। ऐसा नहीं कि अच्छा-अच्छा गप्प कड़वा-कड़वा थू। हमारे जीवन में रचना के लिए भी जगह है और आलोचना के लिए भी। हां, इनमें द्वन्द्व संघर्ष और मैत्री का भाव पाया जाता है। यही तो रचनात्मकता की असली सरणी है और इसी से सार्थकता के अनंत सूत्र लिखते हैं।

आलोचना की व्यापक भूमि होती है और उसकी कार्यवाहियां भी समग्र मानवी विकास के लिए कारगर होती हैं, इस बात को अनेक लोगों ने इंगित किया है। गम्भीर आलोचक सामाजिक, सांस्कृतिक स्थितियों की व्यापक पड़ताल करता है। किसी की आलोचना करते वक्त स्वयं भी जख्मी होता है। आलोचना रचनात्मक मूल्यांकन के साथ-साथ सभ्यता समीक्षा भी है। वह अन्तः दृष्टि और सम्यक विजन का संतुलन भी है। आलोचना, आलोचक का चीत्कार भी है और समाज को सक्षम तरीके से बदलने का सपना भी। आलोचना बेहद जिम्मेवारी का काम है। आलोचना किसी भी

हालत में दारोगागिरी या शक्ति प्रदर्शन नहीं है। उसके व्यापक महत्व को और भूमिका को किसी भी तरह खारिज नहीं किया जा सकता। कौन है जो नामवर सिंह जी के आलोचक के महत्व को नहीं जानता। इसी तरह रामविलास जी की भी आलोचना की महती भूमिका है सीमाएं सबकी होती हैं, लेकिन इन दोनों की भूमिका असन्दिग्ध है। नामवर जी जैसा वक्ता होना तो किसी के लिए भी कठिन है। आलोचना की चिंताएं बहुत दूर तक हमारे मनोविज्ञान को प्रभावित कर सकती हैं। ये बातें भले ही छोटी दिखें, लेकिन उनका विस्तार बहुत सघन होता है। आलोचना रचना से, समय से, परिस्थितियों से और हर तरह की संकीर्णता से संघर्ष भी करती है और मुठभेड़ भी। वहां संवाद तथा हस्तक्षेप दोनों होता है। रचनाकार भी हस्तक्षेप करता है और आलोचक भी। तरीकों में भिन्नता हो सकती है, लेकिन समाज और जीवन सब जगह होता है। कोई चाहकर भी हस्तक्षेप मुक्त नहीं हो सकता? रचना और आलोचना, समाज संस्कृति के बीच पनप रहे हर तरह के ढकोसलों और कर्मकांडों से लोहा लेती है। उसके फैलाव को राजनीतिक मंशाओं के विभिन्न आयामों के सन्दर्भों में भी देखना चाहिए। आलोचना का परिक्षेत्र बहुत बड़ा और विशाल है। आलोचना के जनतन्त्र का दायरा अनेकायामी है। उसकी पहुंच और पकड़ सीमातीत है। कहने को तो बहुत कहा जा सकता है और आलोचना की सघनता को विभिन्न आयामों में खोजा जा सकता है।

जाहिर है कि आलोचना कोई हल्का-फुल्का काम नहीं है। उसका दायित्व बहुआयामी, बहुकोणीय और व्यापक है। आलोचना को सीमाओं में नहीं बांधा जा सकता। वह समाज, जीवन, रचनात्मकता और समूचे फैलाव का विश्लेषण मूल्यांकन करने वाला शास्त्र और लोक भी है। जैसे रचना का विस्तार है वैसे ही आलोचना का भी उनके व्यापक कैनवास के बारे में एक लंबे अरसे से कहा जा रहा है। अनेक प्रश्न एक साथ हैं। जो

विचार विमर्श की समग्रता से मांग करते हैं। सभी तो नहीं कुछ बातें शेयर की जा सकती हैं। इनमें सम्पूर्ण उत्तर नहीं उठाए जा सकते। सबको ज्ञात है कि आलोचना की जगह हमारे समाज में धीरे-धीरे घटी है। विचार और विचारधारा पर बहसों निरन्तर कम हो चली हैं। जुमले बार-बार आते हैं कि आलोचना विलुप्त हो रही है। हकीकत यह है कि आलोचना है और आगे भी रहेगी और उसे रहना भी चाहिए। मुझे विजय देव नारायण साही के शब्द याद आ रहे हैं-‘आलोचक की सबसे बड़ी शक्ति है उसका साहस। जब तक आलोचक में सही बात कहने का साहस नहीं होगा, तब तक उसकी भाषा अमूर्त उलझाऊ और सस्ती होगी।’ मुझे लगता है कि आलोचना का अकाल है। खतरे उठाने को कम लोग ही तैयार होते हैं। तथ्य यह है कि आलोचक चुप नहीं हैं। सामाजिक संचेतना में रचना की भी जगह रहेगी और आलोचना की भी, लेकिन उनकी राजनीति, राजनीति वालों जैसी राजनीति नहीं है। उसमें उथलापन और लोक लुभावन नारे नहीं होता। साहित्य की राजनीति हमारे समाज में सामान्य से सामान्य आदमी की खुशहाली और उसके समग्र विकास से संबद्ध है। आलोचना की तरह-तरह की व्याख्याएं की जाती रही हैं और आगे भी ऐसा होगा। मुक्तिबोध एक सवाल करते थे-पार्टनर! ‘तुम्हारी पॉलिटिक्स क्या है?’ पहले अपनी राजनीति साफ करो। विडंबना यह कि लोग जल्दी अपनी ‘पॉलिटिक्स’ उजागर नहीं करते। यह भी कि लोग हमारे समय में किन-किन खेलों में घुसकर अपना मन माफिक चला रहे हैं। लोक कल्याण के नाम पर बकवास फैला रहे! झूठों के तूमार बांध रहे हैं और जनता की इच्छा के विरुद्ध उन्हें झांसी के रेगिस्तान में फेंक रहे हैं।

वामपंथी राजनीति पर अक्सर सवाल उठते रहे हैं या उठाए जाते रहे हैं। वामपंथ को अलग-अलग ढंग से अपने स्वार्थों के खोल में परिभाषित किया गया है। वामराजनीति, अवसरवादी नहीं बनी, उसने समय की नजाकत देखकर अपने आपको रूपांतरित नहीं किया।



उसने साफ, शुद्ध मुद्दे अपनाए और वह लोकलुभावन के फेर में नहीं पड़ी और ज्यादा सैद्धांतिक बनी रही। जिन्दगी की व्यवहारिकता को शायद उसने नहीं समझा। वामराजनीति की वास्तविकताओं को उसने केन्द्र में रखा। मेरा मानना है कि संसदीय राजनीति प्रायः दुल-मुलपन का शिकार होती रही है। स्वार्थी तत्व हर जगह सक्रिय हैं। ट्रेड यूनियन भी समय के दबाव के अनुरूप अपने आप को सिद्ध नहीं कर पाए। तथ्य है कि अच्छे आलोचकों ने अभिव्यक्ति के खतरे उठाए और अच्छे रचनाकारों ने भी। उनका जुड़ाव जनता की समस्याओं और मुद्दों से था है और रहेगा। लेखक-आलोचक जब तक तात्कालिक लाभ से ऊपर नहीं उठेंगे तब तक उनका निस्तार नहीं, देखिए कमियां सब में संभव है। क्या कमियां ढूंढकर विकास का रास्ता-रोका जा सकता है। क्या कबीर ने खतरे नहीं उठाए, क्या मुक्तिबोध ने खतरे नहीं उठाए, क्या-नामवर सिंह जी को खारिज करने की कार्यवाहियां नहीं हुईं? चरेवेण्ड राजू, सफदर हाशमी, अवतार सिंह पाश, गोरख पाण्डेय और अन्य जनधर्मी लेखकों ने ऐसे तमाम खतरे उठाए हैं, जिसे भूला नहीं जा सकता। उत्तरार्ध पत्रिका वाले सव्यसाची ने जो लिखा है वह अब भी बेमिसाल है। अफसोस की भी कई कोटियां होती हैं। सव्यसाची का अफसोस मेरी समझ में एक तरह के क्षोभ की कोटि में है। लेखकों का एक वर्ग ऐसा भी है, जो प्रशंसा की फेर में है। वह आलोचना झेलने या वास्तविकता से आंख मिलाने में घबराता है। सचमुच बहस लंबी है और इसके कई-कई पहलू हैं। राजनीति तो अपने स्वार्थों में उलझी है। वहां प्रशंसा ही देशभक्ति का प्रमाण है। मतांतर या असहमति विद्रोह और देश विरोधी के रूप में परिगणित की जा रही है। राजनीति ने और खासकर सत्ता की राजनीति ने भाषा को जितना गिराया है, भाषा के साथ जितना छल किया है वह ध्यान देने योग्य है और रिमार्केबिल भी है। उसने शब्दों का जितना खेल खेला है कि उसे देखकर विदपक तक सहम जाते हैं या

घबरा जाते हैं। भाषा मात्र अभिनय नहीं है। उसकी असलियत अंततोगत्वा खुल ही जाती है। ये कुछ मुद्दे हैं, जो हमें पुनर्विचार के लिए प्रेरित करते हैं। सिद्धांतों से अब न तो किसी का पेट भरता है न कोई मात्र सिद्धांतों के बल पर महान बनता है व्यवहारिकता की जमीन ही उसे यथार्थ स्तर तक लाती है। माना कि वे जरूरी हैं। उपदेशों के पोथों से न तो जनता बदलती है न सरकार, न धर्मध्वजी। जो भी बदलेगा हकीकतों से। सत्ता हर उस विचार को किनारे लगाती है जो उसके आड़े आता है।

कभी-कभी ऐसे मुद्दे हमारे सामने आते हैं जिसमें बहस को और धार मिलती है। मैं दूसरों की नहीं कहता। दबी ढंकी प्रतिक्रियाएं जब तब आती रहती हैं। लोग आलोचना से बचने की कोशिश करते हैं। जाहिर है कि हड़बड़ी और तीसमारखां बनने से न तो रचना सम्भव है और न आलोचना। हम सूचना संसार में बाजारवाद के जानलेवा दायरे में हैं। जनतन्त्र को तानाशाही के विशाल खूंटों में बांधने की तैयारी जोरों पर है। कुछ काली शक्तियां ऐसे काम ठेके से कर रही हैं। अब 'जन-गण-मन अधिनायक जय हे' की बजाय हम स्वार्थों की लपलपाती इच्छाओं में जी रहे हैं। व्यक्ति और समाज पर चारों ओर से हमले जारी हैं। ठग विद्या में शामिल लोग तरह-तरह की करामातें कर रहे हैं। वे गिरावट की सजावट में जुटे हैं। जल्दी-जल्दी से सब कुछ लपकने की मुद्राएं ठनठना रही हैं। लेखकों की यश लिप्सा रूपी भूख का क्या कहना? सब भाग रहे हैं। यश लिप्सा के असीमित संसार में कि कितनी जल्दी किताब कहां से छपकर आ जाए? उनकी पुस्तकें, पुस्तक मेले से फोटुओं और प्रचारों की करामात के साथ दिखें और वे बहुत जल्दी सेलेब्रिटी मान लिए जाएं। इच्छाएं तरह तरह की धमाचौकड़ी मचा रही हैं। जलवे निरन्तर पसरते जा रहे हैं। जुगाड़मेन्ट का हांका पड़ा है। कुछ महान आत्माएं जल्दी-जल्दी में पुरस्कार कबाडने के गोरखधंधे हैं। हर शहर में कबीर. प्रेमचन्द.

निराला, प्रसाद, गालिब, मीर, तुलसी, मुक्तिबोध, नागार्जुन, मायकोव्स्की, ब्रेख्त जैसे रचनाकार अपने को मानने वाले अपनी भरपूर छटाओं में घूम रहे हैं। उनकी मार्केटिंग दहाड़ रही है। प्रश्न है कि आत्मप्रशंसा के खोल में जीवित लोग आलोचना से अपनी सेहत कैसे खत्म कर दें? उथलापन यहां तक आ पहुंचा है कि कुछ आलोचकों द्वारा उठाये गए सही मुद्दों को 'कन्स्प्यूशन' की शक्ल में गाया बजाया जा रहा है। ऐसे लेखकों को मात्र प्रशंसा करने वालों की भीड़ चाहिए। आलोचना उनके लिए कड़वी दवा से कम नहीं। अपनी प्रशंसा के लिए ऐसे लेखकों ने अपना एक गुप बनाया है। उसी में अपने गान-तान में मस्त अनुपम एवं अद्वितीय मुद्रा में मुस्कुरा रहे हैं और परम प्रसन्न हैं। कुछ तथाकथित प्रशंसक किस्म के आलोचक भी जहां-तहां अपनी धूनी रमाए हैं और आशीर्वाद की मुद्रा धारण कर 'दूधो नहाओ पूतो फलो' की स्टाइल में सफलता और महानता का प्रसाद बांट रहे हैं। यह धंधे का धर्म है। राजनीति तो इससे पटी पड़ी है। जहां भक्त दहाड़ रहे हैं और कीर्तन-भजन कर रहे हैं। इसी तर्ज पर साहित्य-संस्कृति के महत्वपूर्ण पहलू भी निपटाए जा रहे हैं। बिना जन जीवन की वास्तविकताएं न जानने-पहचानने वाले लोग एक अजीब किस्म के सुख का साम्राज्य खड़ा कर रहे हैं। प्रश्न है कि क्या बिना संघर्ष के, बिना जिन्दगी के ताप के क्या रचना संभव है। इसके बरअक्स बहुत मार्के की बातें उठाई गईं। लेखक और आलोचक के बीच इस दौर में द्वंद्व और ज्यादा सघन हुआ है। केवल अच्छे लेखक अपने बारे में आलोचनाओं के बर्दाश्त करने की कूबत रखते हैं, बाकी कुछ लेखक तो प्रशंसा के अलावा कमियों को सहन करने की किसी भी स्थिति में ही नहीं होते। यदि आलोचक 100 में से 95 प्रतिशत अच्छी बातें बताता है और 5 प्रतिशत कमियों का रेखांकन करता है, तो भी कुछ लेखकों को यह किसी भी तरह गवारा नहीं होता है। ऐसे में आलोचना की जगह निरन्तर सिकड़ती जा रही है। यही हाल आलोचकों

का है। कुछ आलोचक दारोगा की भूमिका निभाते हैं और लेखक को हेठा समझते हैं। यह प्रवृत्ति बेहद खतरनाक है। आलोचना एक तरह से संवाद भी है और सभ्यता समीक्षा भी। जाहिर है कि रचना और आलोचना का रिश्ता द्वंद्वात्मक है। दोनों की उत्कट सम्बद्धता जीवन जगत से है, कठिनाइयों एवं दिक्कत से है। जाहिर है कि समय और जीवन एक दूसरे को संजीवनी देते हैं। इसका विस्तार लेखक और आलोचक में भी होता है। आलोचक की जिम्मेदारी ज्यादा व्यापक होती है, लेकिन किसी भी कीमत में रचनाकार की भूमिका और हैसियत किसी भी तरह कमतर नहीं होती।

आलोचना के बार में एक लंबे कालखंड से विमर्श होते रहे हैं। आलोचना रचना का वस्तुगत आस्वाद करती है। आलोचना और ज्ञान के अन्य अनुशासनों की पड़ताल आलोचक करता है। रचनाकार का क्षेत्र भी यहां तक पहुंचता है। आलोचना की टकराहट रचना से और उन सभी परिधियों में होती है, जहां जीवन जगत और अन्य कारकों की विशाल सीमाएं हैं। अहंकार रचनाकार में भी हो सकता है और आलोचक में भी। दूसरा मुद्दा है कि लोकतन्त्र में अराजकता के लिए कोई जगह नहीं है। अराजकता और मनमानापन लोकतन्त्र के लिए हानिप्रद है। जनतन्त्र को झूठ तन्त्र में तब्दील करने की योजना जनतन्त्र की मूलभूमि से विचलन की कवायद ही तो है। बहरहाल आलोचना पूर्वग्रहविहीन यदि है तभी उसकी व्यापक पहचान होती है। आलोचना का काम अगड़म-बगड़म से नहीं चल सकता। अभी तक जो विचार-विमर्श हो रहा था, उसमें आलोचना के व्यापक दृष्टिकोण पर बातें हो रही थीं, आलोचना की दिक्कतों की ओर भी ध्यान आकर्षित किया जा रहा था। उसकी सीमाओं और संभावनाओं के अनेक कोण और आयाम भी होते हैं, हालांकि आलोचना की अनेक धाराएं हैं और अनंत ढंग से देखने-समझने के अनेक मुद्दे भी रहे हैं। आलोचना और रचना जीवन की तरह कहीं ठहरने वाली चीज नहीं है। आलोचना के अपने

सामाजिक सरोकार भी हैं और जनतन्त्र के साथ उसका व्यवहारशास्त्र भी आलोचना एक ऐसी आँख भी है जो सभी जगह देखती है। उसके सामने कोई छल टिक नहीं सकता। वैसे तो हमारी कायनात एक लंबे अरसे से छलना में बनाई जा रही है। आलोचक ही इस बात को उजागर करते हैं और जनता के सामने वास्तविकता रखते हैं। हम एक ऐसे संभ्रम वाले दौर में हैं जिसमें रचना भी कराह रही है और आलोचना भी। यही नहीं हमारी समूची सामाजिकता भी। सत्ता के सूरमाओं ने राजनीतिक नृशंसताओं का ऐसा सम्मोहनात्मक जाल फैला दिया है कि स्वार्थी राजनीतिज्ञों के सामने सब बौने हो जाए। जो नहीं हो पाए उन्हें बनाया भी जा रहा है। राजनीति के मार्फत जनता का नाजायज खेल खेला जा रहा है। महान रचनाकार शेक्सपियर की कविता की इन पंक्ति को पढ़िए जिसमें व्यंग्य, विद्रूप, विडम्बना और जानलेवा सच्चाई है-

‘स्वर्ण! पीत, जगमग, बहुमूल्यव स्वर्ण!...  
काले को सफेद, मलिन को निर्मल,  
अनुचित को उचित, मिथ्या को सत्य.  
अधम को उच्च, वृद्ध को युवा,  
भीरु को वीर-नायक बनाने वाले...  
ओ, ओ अभिशप्ता धरा,  
मानव की सामूहिक गणिका,  
राष्ट्रों के सर्वनाश के लिए जो उपजाती है वैषम्य.  
ओ, मधुर, महान् हत्यारे!’  
आज के दौर की आलोचना पर बात करते हए मेरे

सामने आजादी के पूर्व की आलोचना और आजादी के बाद की आलोचना के अक्सए बार-बार कौंध जाते हैं। पहले की आलोचना में साधनात्मीकता की स्थिति गजब की थी, जबकि अब लिखी जा रही आलोचना में एक तरह की सिद्धावस्था है। आलोचना का काम केवल अपने समय भर को देखना नहीं है। उसका काम परम्परा की रक्षा भी है। आलोचक विभिन्न चीजों को देखते हुए अपने समय, समाज, वास्तविकता और विडम्बनाओं और विरोधाभासों को तो उजागर करता ही है, वह एक निर्मल दृष्टि भी प्रदान करता है। नामवर जी ने कहा था- ‘आलोचक सही अर्थों में वे हैं जिसके पास लोचन है। वह लोचन किसी दृष्टि और साहित्य से ही प्राप्त करता है, रचना से प्राप्ता होता है। यह किसी दर्शन से प्राप्त हो यह संभव नहीं है।’ ‘मेरी नजर में वह चितवन ही और कछु है’ जिसमें आलोचक रीझता भी है, खीझता भी है और कुछ नया कहने और करने का काम करता है। आलोचना को यूँ ही हंसी में नहीं उड़ाया जाना चाहिए, क्योंकि यह एक गंभीर काम है। एक रचनात्मक काम है। यदि आलोचक में सर्जनात्मकता नहीं है, बड़ा दिल नहीं है और बहुत कुछ को देखने की क्षमता नहीं है, तो निश्चय ही वह आलोचना नहीं कर सकता। इस वास्तविकता के प्ररिप्रेक्ष्या में आलोचना को उसकी विविधता को और उसके मूल्यसंघर्ष को समझा जाना चाहिए अन्यथा लिखते-पढ़ते तो बहुत हैं, लेकिन उनकी उपस्थिति कभी भी कारगर नहीं होती।’

संपर्क : 9425185272

## विमर्श-केन्द्रित साहित्य और हिन्दी आलोचना

पी. एन. सिंह

यह सही है कि उत्तर-आधुनिकता ने विमर्श की अवधारणा को केन्द्रस्थ किया है और आज लगभग सभी विमर्शकार हैं, समीक्षक या समालोचक नहीं। अपने बी.एच.यू. के एक व्याख्यान में नामवर सिंह ने समीक्षा शब्द को खारिज करते हुए 'समालोचना' पर बल दिया था। क्योंकि आज की समीक्षा पाठ-केन्द्रित (text-rooted) न होकर यह सांस्कृतिक अध्ययन और आकलन-मूल्यांकन है। मक्तिबोध आलोचना को 'सभ्यता विमर्श' कहा करते थे। नामवर जी के शब्दों में :

“हिन्दी आलोचना आगे बढ़ी है-वह गुण-दोष विवेचन से साहित्यिक आलोचना बनी है और आगे बढ़ गयी है जिसे सांस्कृतिक आलोचना कहना उचित होगा। यदि अब कोई रामचरितमानस की आलोचना करना चाहे तो चरित्र निरूपण और शील निरूपण से काम नहीं चलेगा। वह केवल महाकाव्य नहीं है कि प्रबन्ध निरूपण और रस-निरूपण करने से काम चल जायेगा। रामचरितमानस पाँच सौ वर्षों में भारतीय जीवन की एक सांस्कृतिक इकाई बन गया है और उसे सभ्यता विमर्श के रूप में देखा जाना चाहिए।” (संवाद. अंक-दो. अक्टूबर-दिसम्बर, 2003, पृ० 35)।

अपनी चर्चित पुस्तक “क्रिटिसिज़्म एण्ड आइडियोलॉजी” (एन.एल.ए., 1976; वर्सेज, 1980) में टेरी ईगल्टन ने लगभग तीस-पैंतीस वर्ष पूर्व यह प्रश्न उठाया था कि “समालोचना केवल पाठ और पाठक के बीच ईमानदार मध्यस्थ की भूमिका तक सीमित है या यह एक विकलांग विमर्श(crippled discourse) है, यह माल और उपभोक्ता के बीच की भूमिका है। और इस मायने में इसकी भूमिका उपजीवी की है जो एक तरह से आत्महनन (Self abolition) ही है। इस रूप में अब इसकी आवश्यकता भी नहीं है। लेकिन उनकी आलोचना ने अपना निर्माण किया है और अब इसके तोड़ने या टूटने में इतने मौलिक. अकादमिक और सांस्कृतिक खतरे हैं कि अब यह संभव नहीं है।” (पृ० 11)।

भारतीय काव्यशास्त्र ने भी इसे 'कारयित्री प्रतिभा' के रूप में दरकिनार ही रखा, और 19वीं सदी के इंग्लैण्ड के समालोचक मैथ्यू अर्नाल्ड इसे द्वितीय स्तर देते हैं, तथा इलियट समीक्षक को 'सुपर रिव्युअर' से अधिक अहमियत नहीं देते। समालोचक या तो बेट्सन का “स्कॉलर क्रिटिक” है या कॉलरिज एवं ब्रैडली की तरह रचनाकार की प्रतिभा का उद्घाटक। अपनी हिन्दी में भी आचार्य शक्ल की “त्रिवेणी” और आचार्य द्विवेदी की “कबीर”

मध्ययुगीन संत कवियों की प्रतिभा का उद्घाटन हैं, 'सभ्यता विमर्श' या नामवरी अर्थों में "आलोचना" है। यह स्वतः मुक्तिबोध का "कामायनी" मूल्यांकन या नामवर की "अँधेरे में" की समीक्षा दरअसल "सभ्यता विमर्श" नहीं है और न ही रामविलासजी की मैग्नमोपस "निराला की साहित्य-साधना" सभ्यता-समीक्षा है। मैं केदारजी के "उत्तर केदार" में जब "बाघ" पर नन्दकिशोर नवल की समीक्षा पढ़ रहा था तो मुझे यही एहसास हुआ था। अत्यन्त उपयोगी होने के बावजूद व्याख्या तक जाते-जाते समीक्षा रुक जाती है। नवल जी उसमें कहीं नहीं दिखते। दरअसल, ये सभी अधिकतम पाठ व्याख्याएँ हैं। कवि-प्रतिभा आलोचक पर हावी है।

आलोचक अपनी नम्बर दो की भूमिका को स्वीकार करता चलता है। स्तर टिप्पणीकार से भी कम व्याख्याकार की है। आलोचक अपनी पारम्परिक मध्यस्थता वाली भूमिका से संतुष्ट है।

क्रिस्टॉफर कॉडवेल ने अपनी "इल्यूजन एण्ड रिआलिटी" में साहित्यिक पठन के तीन स्तरों की चर्चा की है-आनन्द, गुण-निरूपण और समालोचना। पारम्परिक आलोचना आस्वाद/आनन्द और गुण-निरूपण पर आकर रुक जाती रही है। कॉडवेल का मानना है कि "आलोचक" के स्तर तक पहुँचने में समीक्षक को पाठ और रचनाकार से दूरी बनानी पड़ती है, और इस दूरी को समाजशास्त्रीय तत्वों से पाटना पड़ता है। अर्थात्, आलोचक अब समाज, सभ्यता और संस्कृति की दुनिया से साक्षात्कार करता है। अब समीक्षा "मूल्यांकन" का रूप लेती है। दरअसल, समाजोन्मुख हुए बगैर समीक्षा विमर्श की जटिल दुनिया से नहीं जुड़ पाती, अर्थात् नामवरी अर्थों में 'आलोचना' नहीं बन पाती।

एक बात और जो मुझे कुरेदती है और उधर मैं आप का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। बात यह है कि कोई भी श्रेष्ठ रचना आरम्भ से ही सभ्यता-विमर्श रही है या एडवर्ड सैड के शब्दों में कहें तो वह 'विचारधारात्मक' रही हैं। विमर्श विचारधारात्मक और

प्रेरक होता है; वह किसी दृष्टि-विशेष का संवाहक होता है। वह कृति को सत्ता और व्यवस्था के सन्दर्भ में देखता है; वह स्वीकार-अस्वीकार, स्थापना-निषेध के दुरूह रास्तों से गुजरता है। वह भाषिक आरोह का चौथा सोपान है-आस्वाद, समझ, व्याख्या-विश्लेषण और फिर विमर्श जहाँ मुठभेड़ें हैं। कहा जा सकता है कि रचना समय-सापेक्ष होती है, और पारम्परिक आलोचना रचना-सापेक्ष, लेकिन वास्तविक आलोचना सभ्यता-सापेक्ष होती है। अभी-अभी किसी पत्रिका में पुरुषोत्तम अग्रवाल की एक विमर्शात्मक संपादकीय पढ़ रहा था-"लीक छोड़ तीनों चलें..." जो 'लोकमानस'.. 'मर्यादा'... 'आस्था' को ध्यान में रखते हुए कृति के पाठ की अपेक्षा पर टिप्पणी है। "गीता" के फिल्मी मान्टेज के रूप में उपयोग से हिन्दू भावनाएँ क्यों आहत होती हैं? "लज्जा", "द्विखण्डिता" और "सैटनिक वर्सेज" से साहित्यकारों की या किसी धार्मिक समुदाय की आत्म-निर्मित एवं आत्म-मुग्ध छवि को क्यों चोट पहुँचती है? पाकिस्तान में "ब्लासफेमी" क्यों अपवर्जन और बैन की शिकार है? "वाटर" की शूटिंग वाराणसी में क्यों संभव नहीं हो सकी? या अम्बडेकर की राम एवं कृष्ण संबंधी टिप्पणियों पर इतना प्रोटेस्ट क्यों होता है? पुरुषोत्तम जी रचना की पाठ में 'आस्था', 'मर्यादा' और 'लोकमानस' के आह्वान को "एक राजनैतिक प्रक्रिया और प्रोजेक्ट" मानते हैं। वह सही ही आगाह करते हैं कि "आहत भावनाओं" के सांस्कृतिक खेल में भावनाएँ कम राजनीतिक गणित अधिक होती हैं (संवाद, 110)। उनका यह भी मानना है कि 'लोकमानस' से जुड़ाव का एक तरीका उसकी मान्यताओं को झकझोरना भी है। डॉ. नामवर सिंह ने "दूसरी परम्परा की खोज" में हिन्दी चेतना की मुख्य 'परम्परा' को झकझोरने का प्रयास किया था। लेकिन उनसे दो चूकें हो गयीं-एक, वह विश्लेषण-मूल्यांकन में अपने गुरु व्यक्तित्व से आक्रान्त रहे; और दो, उनके गुरुदेव प्रमुखतः मूल वैदिक परम्परा के ही एक उदार धरा थे। और कई



मामलों में आचार्य शुक्ल से कम उदार भी थे। इन तथ्यों की नामवर जी ने अपने मूल्यांकन में अनदेखी की। दरअसल, नामवर जी का यह विमर्श भी मूल परम्परा का ही विस्तार था; वह वैकल्पिक विमर्श नहीं था। वैसे इसमें कोई बुराई नहीं है। अज्ञेय ने रामायण के शम्बूक आख्यान का एक वैकल्पिक पाठ दिया है जो मुझे पसंद आता है :

“मैंने शम्बूक की कथा पढ़ी है। मैं उसे कभी उस अर्थ में नहीं ग्रहण कर पाया जिस अर्थ में मुझे समझाया जाती रही है... यह प्रश्न कोई क्यों नहीं पूछता कि शूद्र की तपस्या में इतना बल था कि ब्राह्मण का बेटा मर जाए, तो ब्राह्मण का ब्राह्मणत्व कहाँ चला गया था? क्या उसकी सीमा यही थी कि राजा के सामने जाकर रिरियाये? क्यों नहीं, राम ने भी उस ब्राह्मण से पूछा कि वह क्यों इतना हीनतेज हुआ?” (अज्ञेय. लेखक का दायित्व, वत्सल निधि, 2002, पृ0 24)।

अज्ञेय की दृष्टि में उसका वास्तविक अपराध आर्य विश्वदृष्टि से बाहर का होना था। वैसे अज्ञेय यहाँ राम को लेखकीय स्थितिशीलता की अभिव्यक्ति मानते हैं, और शम्बूक को गतिशीलता की। राम अपने समय के नायक हैं, शम्बूक अनागत का सूत्रधार। यह परंपरा का ही विस्तार है-राम और शम्बूक एक ही परम्परा के दो धड़े हैं, जैसे ऋषि अजीगर्त और उनका पुत्र शुनःशेष, या वशिष्ठ और विश्वामित्र, याज्ञवल्क्य और तथागत, तुलसी और कबीर, राधाकांत डे और राममोहन या सावरकर और गाँधी, अथवा गाँधी और अम्बेडकर, या दयानन्द और ज्योतिबा फुले। दरअसल, कोई भी संस्कृति मोनोलिथिक या अखण्ड नहीं होती। एडवर्ड सर्ई की एक अवधारणा के अनुसार, सभी संस्कृतियाँ “कन्ट्रापन्टल” (contrapuntal) होती हैं। उनमें परस्पर विरोधी या संघर्षरत आख्यान होते हैं। जैसे एक स्वर से संगीत नहीं बनता, उसी तरह एक विश्वदृष्टि से कोई संस्कृति नहीं बनती। ट्राइबल-संस्कृति संस्कृति नहीं, जीवनचर्या का एक स्वाभाविक आयाम है। यह निर्मिति

नहीं हैं। सामान्यतया संस्कृतियाँ निर्मिति होती हैं और वर्ग-विभेद इनकी पूर्व-शर्त है। एंगेल्स की एक स्थापना याद आ रही है-अतिरिक्त मूल्य संस्कृति में निहित है। आशय यह कि प्रकृत्या कुछ के संस्कृत होने में कुछ कीमत चुकानी ही पड़ती है। आवश्यक है इन दोनों के बीच निरन्तर संवाद की, ताकि संस्कृत अब अपने को दैवीय और दूसरे को पार्थिव न समझने लगे। मार्क्स की यूटोपिया तो बहुत दूर की कौड़ी है, लेकिन एक डेमोक्रेटिक यूटोपिया की ओर बढ़ने का संकल्प जुटाया जा सकता है। साहित्य इसका संवाहक रहा है। इसी कारण ऋषि-राक्षस, द्रोणाचार्य-एकलव्य, ब्राह्मण-शम्बूक, कर्ण-आख्यान, विदुर-विवेक की त्रासदी, इत्यादि को इसी कन्ट्रापन्टल (contrapuntal) अनुभवों के दायरे में मुख्य संस्कृति को समझा जा सकता है। वर्ण-विभाजन भी इसी का द्योतक है।

यहाँ प्रश्न खड़ा हो सकता है कि इस विमर्श में इस्लाम और ईसाईयत को क्यों नहीं रखा गया है। दरअसल, ये सेक्युलर सरोकार के मुद्दे हैं, और अभी हिन्दी की सेक्युलर संस्कृति एक अभिजात धड़े तक सीमित है। यह इसकी सांस्कृतिक संवेदना का हिस्सा नहीं है। जायसी, रहीम, रसखान, कुतुबन, आदि मुख्यधारा के दायरे में हैं-ये सभी वैष्णव-परम्परा से अभिसिंचित हैं। कबीर इस्लाम की केन्द्रीय चेतना के हिस्से नहीं हैं, और हिन्दुओं ने उनके अनहद नाद को अपनी परम्परा में सुना-समझा है। इस दृष्टि से आचार्य द्विवेदी की पुस्तक ‘कबीर’ इस पारम्परिक यथार्थ को समझती है। दरअसल, सेक्युलर चेतना, जो आज के बहुल समाज की वास्तविक मानवीय चेतना है, का आधार वह लौकिक विवेक है जो सीजर को सीजर का हिस्सा, और ईश्वर को ईश्वर का हिस्सा देने का प्रयास करता है। इस प्रकार सेक्युलर चेतना सहअस्तित्ववादी और संतुलनवादी है, समन्वयवादी नहीं है और सहअस्तित्व और संतुलन कभी सांस्कृतिक संवेदना का हिस्सा नहीं बना करते। साहित्य को वहत्तर सांस्कृतिक-सम्भ्यतागत

संदर्भ में ही पढ़ा जाना है। अतः इस्लाम और ईसाईयत भारतीय परिवेश में विजातीयता के शिकार हैं। गाँधी और अम्बेडकर, नेहरू एवं नरेन्द्रदेव इससे अवगत थे। मुस्लिम चेतना का केन्द्र मध्यपूर्व बना रहेगा, और ईसाईयत का केन्द्र पश्चिम रहेगा। इससे सियासी तनाव उपजते रहते हैं, और इसमें तरह-तरह की पेचीदगियाँ भी हैं। प्रश्न है, क्या औरंगजेब हिन्दू चेतना का हिस्सा बन सकता है? या क्या अकबर मुख्य मुस्लिम संवेदना का हिस्सा बन सकेगा? हमें इन महों पर भी टिक कर बात करनी चाहिए।

## II

अब थोड़ा आज के विमर्श के साहित्य और हिन्दी आलोचना की ओर लौटा जाय। इस संदर्भ में दो विमर्श प्रमुख हैं-स्त्री-विमर्श और 'दलित' विमर्श। इसमें स्त्री-विमर्श के प्रति मैं बहुत सावधान नहीं हूँ। इसलिए दलित-विमर्श ही पर थोड़ा टिकना चाहूँगा।

दलित विमर्शमूलतः अम्बेडकरी चेतना की उपज है जो : सामदायिक चेतना (communitarian consciousness) है, जो मूलतः 'पारम्परिक' चेतना को ब्राह्मणी चेतना या सवर्ण चेतना के रूप में अभिहित करती है। यह दलित पीढ़ा की अभिव्यक्ति है, और इस पीढ़ा को "ब्राह्मणी विचारधारा" या सनातनी परंपरा से सटाकर देखती है। अतः इसका 'विलेन' स्पष्ट है। इस दलित परिप्रेक्ष्य पर हिन्दी समीक्षकों की अपनी टिप्पणियाँ हैं। डॉ. मैनेजर पाण्डेय, डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी, डॉ. भवदेव पाण्डेय, आदि आलोचना से बचते हैं, और इनका टोन संरक्षक वाला है। तीनों ही इसकी अनगढ़ तेजस्विता को स्वीकारते हैं और बहुत कुछ अन्भव की समझ पर बल देकर अनागत पर छोड़ देते हैं।

डॉ. रामविलास शर्मा और डॉ. नामवर सिंह दलित साहित्य को भारतीय संस्कृति एवं साहित्य की परंपरा में एक संश्लिष्ट इकाई के रूप में देखते हैं-जिसके

निर्माण में सवर्णों, अवर्णों एवं दलितों माने सब का अवदान है। भारतीय संस्कृति में सामाजिक मुक्ति की चेतना आरंभ से है-लोकायत, जैन, बौद्ध, नाथ-सिद्ध, संत-भक्त, 19 वीं सदी के समाज-सुधार, राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन, गाँधी, प्रगतिशील एवं वामपंथी आंदोलन, सबकी अपनी-अपनी भूमिका है। फुले, अम्बेडकर या आज का दलित आंदोलन इस लम्बी प्रक्रिया की कड़ी में ही है।

डॉ. रामविलास शर्मा इसमें वर्गीय चेतना चाहते हैं ताकि यह आत्ममुग्धता से बचे और एक स्वस्थ विश्वदृष्टि अपना सके। इसके साथ ही वह इसे दलित मुक्ति के प्रयास के रूप में भी देखते हैं। नामवर जी को इससे कलात्मक अपेक्षाएँ हैं, रामविलासजी की वर्गीयता। राजेन्द्र यादव इसे मूल ब्राह्मणवादी, पुरुषवादी, मनुवादी हिन्दू परंपरा में निहित उत्पीड़न से जोड़कर सामाजिक-साहित्यिक मुक्ति के प्रयास के रूप में देखते रहे। जैसे संतों ने हिन्दी साहित्य को एक नई ऊर्जा, तेजस्विता दी थी, उसी प्रकार आज का दलित साहित्य हिन्दी साहित्य को नई तेजस्विता देता है।

इसने अनुभवों का नया खजाना दिया है-जब वाल्मीकि या लिम्बाले यह कहते हैं कि सुअर की दुर्गंध और हूँ-हूँ हमारे जीवन का एक अभिन्न अंग है।

डॉ. यादव के अनुसार, एक नई भाषा और अभिव्यक्ति का नया अंदाज दिया है और नहीं तो इसने हिन्दी साहित्य चेतना को आत्मालोची बनाया है। इसने 'स्वानुभूति' एवं 'सहानुभूति' की बात सामने लाकर हिन्दी गैर-दलित साहित्यकारों के समक्ष चुनौती प्रस्तुत की है। मैंने भी दलित लेखन पर कुछ काम किया है, और मेरे अपने निष्कर्ष हैं जिन्हें आपके समक्ष संक्षेप में रखना चाहूँगा-दलित साहित्य अभी आत्मलीन साहित्य है और इस रूप में अपने परिवेश का शिकार है। इसे अतिक्रमित कर यह अपनी सीमाओं को देखने की स्थिति में नहीं है। इसकी परंपरा-संबंधी समझ इकहरी है-भारतीय परंपरा में निहित सामाजिक मुक्ति अभियानों

की इसने अनदेखी की है। इस अनदेखी का परिणाम एक तरफ राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन से इसका कटाव है और दूसरा इसका भारतीय समाज में, सांस्कृतिक कारणों वश अलग-थलग पड़ना है। परंपरा में contrapuntal अनुभवों को देखना चाहिए-धार्मिक, सांस्कृतिक मुक्ति तक सामाजिक मुक्ति को सीमित करना, उचित नहीं लगता। अतः इसे अन्यत्र के प्रगतिधर्मा एवं मक्तिकामी विचारों को तरजीह देनी चाहिए।

इतना ही नहीं, इसे अपनी मुक्ति को समूचे समाज की मुक्ति की पूर्वशर्त के रूप में देखना होगा। यह आकांक्षा बिना वर्गीय दृष्टि के संभव नहीं है, जिस पर रामविलासजी बार-बार बल देते हैं। इसे अपने आक्रोश को काव्यात्मक बनाना होगा ताकि यह दलित साँचे के बाहर भी ग्राह्य हो सके। अगर साहित्य समावेशी नहीं है, तो यह कम्युनिटी साहित्य बनकर सिकुड़ता जाएगा। अतः इसे अपने अनुभवों का विस्तार करना होगा-केवल दलित जीवन पर लिखते जाना और वह भी 'द अदर' के साथ, इसे समाजवादी यथार्थवाद (socialist realism) की तरह बासी और अविश्वसनीय बना देगा। यह अभी ही कथ्यात्मक थकान का शिकार दिखता है। साहित्य में धीरे-धीरे अधिकारों का दौर

कमजोर पड़ा है जो उचित है। इससे वैचारिकता दरकिनार होती है, और यह साहित्य राजनीतिक हो जाता है। साहित्य व्यक्तियों के माध्यम से समाज का अंकन करता है; समाज के माध्यम से व्यक्तियों का नहीं। अन्यथा व्यक्ति का अनूठापन समाप्त हो जाएगा, और सभी टाइप बनकर सपाट हो जाएँगे। यथार्थ के अनेक आयाम हैं-सामाजिक, वैयक्तिक अर्थात् मनोवैज्ञानिक, और यूनियवर्सल माने परासामान्य (paratypicality)। सामान्यतया, वर्तमान दौर में आलोचना वर्गीय न होकर सामुदायिक अथवा नस्ली है। रामविलास जी के शब्दों में-यही उनकी मुक्ति साहित्य रचना दलित के जीवन में इस मानसिक अँधेरे के खिलाफ रोशनी की बगावत है। वह उसके अंदर मनुष्य होने की घोषणा है। इतने बड़े पैमाने पर दलित लेखकों का रचनारत होना वर्ण-व्यवस्था पर आधारित समाज के विरुद्ध उठ खड़े होने का संकल्प भी है। यह नहीं भूलना चाहिए कि भक्ति आंदोलन के आरंभिक दौर में भी कबीर, रैदास, नामदेव और ऐसे कितने ही संत और क्रान्तिद्रष्टा कवि शिक्षा के अभाव में भी अपनी आत्मा की आवाज को कलमबंद कराने में कामयाब हुए थे। आज शिक्षित होकर अधिक सार्थक सौन्दर्यपूर्ण रचना करने में सक्षम हैं। (प0 36)।

संपर्क : 09451316529

## हिन्दी साहित्य का तकनीकी प्रयोगवादी युग

सम्राट सधा

हिन्दी साहित्य का आलोचना-जगत पर्याप्त समय हुआ, वर्तमान काल के नामकरण को लेकर मौन है! इतिहास लेखन का कार्य मानों मानक रूप से हो चका है और परिवर्द्धन के फेर में पड़ना व्यर्थ है।

हिन्दी साहित्य के 'बहु पठित' इतिहास के रूप में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा संयोजित(लिखित नहीं) इतिहास ही आज तक पढ़ा-पढ़ाया जा रहा है। इस बहु पठनीयता को 'सर्व स्वीकृति' मानना उचित नहीं! स्वयं अपने संयोजित 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' के प्रथम संस्करण में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने यह स्वीकार किया था कि उस इतिहास में वर्णित 'आधुनिक काल' के अंतर्गत उक्त काल के सभी रचनाकारों के साथ पूर्ण न्याय नहीं कर पाने की चूक उनसे हुई- 'वर्तमान काल के अनेक प्रतिभासम्पन्न और प्रभावशाली लेखकों और कवियों के नाम जल्दी में या भूल से छूट गये होंगे। यह एक तथ्य है कि आचार्य शुक्ल ने संवत् 1986 ,अर्थात् सन् 1929 में संशोधित रूप में अपने द्वारा संयोजित या लिखित हिन्दी साहित्य का यह इतिहास काशी नागरी प्रचारिणी सभा को प्रकाशनार्थ दिया था, जबकि इससे लगभग एक वर्ष पूर्व ही यह इतिहास अपने मूल रूप में 'हिन्दी शब्द सागर' की भूमिका के रूप में संवत् 1985 में प्रकाशित हो चुका था। इन तथ्यों से सुस्पष्ट है कि पूर्णता की दृष्टि और विशेषतः काल-विभाजन के परिप्रेक्ष्य में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास को भी एक मानक साहित्य-इतिहास-ग्रन्थ नहीं माना जा सकता।

प्रश्न 'आधुनिक काल' के नामकरण का है। आचार्य शुक्ल के हिन्दी साहित्य के इतिहास में आधुनिक युग का काल संवत् 1900 से संवत् 1980, अर्थात् सन् 1843 से सन् 1923 बताया गया। बाद में संवत् 2009 में डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा लिखित हिन्दी साहित्य का इतिहास पुस्तक रूप में 'हिन्दी साहित्य' नाम से आया। इसमें आधुनिक काल के अन्तर्गत सन् 1936 से 1956 तक 'प्रगतिवाद' का वर्णन करते हुए आधुनिक काल का सीमांत कर दिया गया। कालान्तर में प्रकाशित होने वाले अधिकांश हिन्दी साहित्य के इतिहासों में स्थूल रूप से आधुनिक काल संवत् 1900 से 'अब तक' बताया गया, जो अब तक चलता ही आ रहा है!

बीसवीं सदी के अंतिम दशक में उत्तर आधुनिक शब्द को लेकर पर्याप्त विमर्श हुआ। नामवर सिंह के ये विचार द्रष्टव्य हैं-‘यह सही है कि नब्बे के दशक की दुनिया बदली है। यह एक गुणात्मक रूप से भिन्न दुनिया है। इसे क्या नाम दें? चूँकि अब तक यूरोपीय शब्दावली से ही अवधारणाएँ चली हैं, इसलिए इस बदली हुई स्थिति को कोई ‘उत्तर आधुनिकता’ कहता है। तो मुझे स्वीकार्य है।

उत्तर आधुनिकता का सम्पूर्ण मायाजाल अन्ततः इसकी प्रवृत्तियों के विमर्श तक उलझकर रह गया और साहित्य के उस काल विशेष को कोई नया नाम या कम से कम ‘अब तक’ के प्रभाव से मुक्त करने में असफल ही रहा। इसका प्रमुख कारण यह था कि मात्र हिन्दी साहित्य में नहीं, वरन् भारतीय साहित्य में ही उत्तर आधुनिकता और इसके हेतु भूमंडलीकरण को यूरोपीय दृष्टिकोण से परिभाषित किया गया। एक खॉंचा, जो वस्तुतः पहले यूरोपीय के पश्चात् अब अमेरिकी था, उत्तर आधुनिकता को प्रस्तुत करने का माध्यम बनाया गया। बंगला लेखक अंजन सेन ने अपने एक शोध लेख-Uttar Adhunik Bengali Poetry : A Departure From Euro-Centricist Modernism में हिन्दी-दिग्गजों की अंग्रेजी मानसिकता पर चोट की। इधर नामवर सिंह ने सुधीश पचौरी को एक साक्षात्कार देते हुए कहा-‘हमारी उत्तर आधुनिकता हमारी अपनी ऐतिहासिक स्थितियों का परिणाम है। वह पश्चिम की नकल पर ज्यों की त्यों नहीं है। विश्व इतिहास क्रम में भारत अपवाद नहीं है।...भारतीय लोगों को बताने की जरूरत है कि तुम अब उत्तर आधुनिक स्थिति में हो। सुधीश पचौरी ने लिखा-‘हिन्दी में उत्तर आधुनिकता आ चुकी है। मीडिया में छपकर, रिव्यू होकर यशकामी, पैसाकामी लेखकों की अनंत भीड़ साहित्य को सहजकर्म बना रही है। कहा जा सकता है कि एक उत्तर भारतीय किस्म की उत्तर आधुनिकता यहाँ व्यवहार में काफी पहले से मौजूद है। यद्यपि उसके अनन्त व्यवहारकर्ता

यह नहीं मानते कि वे नितांत उत्तर आधुनिक नर्क में हैं। यह पाखण्ड स्वयं आधुनिकता और उत्तर आधुनिकता के बीच फंसे होने का सचक है। यह हिन्दी वालों के अस्तित्व का प्रतीक है।

यहाँ तक यह स्पष्ट है कि बीसवीं सदी उत्तर आधुनिक विमर्श के कोलाहल के संग विदा हुई और सर्वमान्य रूप से हम हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल का अंतिम ‘अब तक’ ना हटा पाये। भारतीय या कहे हिन्दी चिंतकों के मतानुसार यदि पिछली सदी के अंतिम दशक में उत्तर आधुनिकता का जाप कर हम उस युग को ‘उत्तर आधुनिक युग’ अर्थात् प्रकारान्तर से आधुनिक युग के समापन का द्योतक मान भी लें, तो उस सदी के अंतिम दशक से प्रारम्भ हुआ वह उत्तर आधुनिक युग इक्कीसवीं सदी के इस उन्नीसवें दशक तक चला आ रहा है। यह गले उतरने वाली बात नहीं है।

गत बीस वर्षों में हिन्दी लेखन और प्रकाशन, दोनों की स्थिति में पूर्व की अपेक्षा क्रांतिकारी परिवर्तन आया है। लेखन से नितांत टंकण की इस प्रक्रिया में रचनाधर्मिता निश्चित रूप से ‘प्रदूषित’ हुई है। पहले इंटरनेट के चित्र उपलब्ध नहीं थे, सो अवलोकन और अनुभूति का महत्व था, अब ‘चित्र पहेली-सी स्थिति है। फेसबुक पर कवि-कवयित्रियों की ‘सुनामी’ है, जो लुप्त है, वह है मर्मस्पर्शिता! बाजारों में साहित्यिक पत्रिकाओं की संख्या कम है, बिक्री उससे भी कम, परंतु रचनाकार बढ़ते ही जा रहे हैं, यह हिन्दी साहित्य की लौकिक स्थिति है। ऐसे में हिन्दी साहित्य के काल से बड़ी और संभवतः एकमात्र चिंता येन-केन-प्रकारेण स्वयं को स्थापित करने की है, स्थापित होने के लिए प्रकाशन से अधिक परस्कार चाहिए और परस्कार के लिए...

हम हिन्दी साहित्य के इस वर्तमान काल को क्या नाम दें? क्या आचार्य शुक्ल व अन्य द्वारा कथित आधुनिक काल के बढ़ते सिरे ‘अब तक’ को शाश्वत



मान हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल को चिर स्थायी स्वीकृत कर लिया जाए? क्या उत्तर आधुनिक को एक काल मान, उसकी समाप्ति भी अभी नहीं हुई, ऐसा घोषित किया जाए? हिन्दी के आलोचक इन प्रश्नों को संभवतः अब विचारणीय की श्रेणी में भी रखते नहीं हैं!

हिन्दी का रचना-जगत अब घोर तकनीकी का संसार है। सामाजिक ढांचे के चरमराने और 'नेट सफरिंग' से नये प्रकार के सम्बन्ध उत्पन्न हो रहे हैं। इन संबंधों में सम्बोधन तो पूर्व की भांति ही हैं, परंतु संवेदना विलुप्त है। प्रत्येक हाथ में स्नेहिल हाथ होने के बजाए 'हैण्ड सेट' (मोबाइल) है, जिसने समग्र हिन्दी संसार को एकदम बदल दिया है। इन स्थितियों पर टिपण्णी करती हुई वरिष्ठ कथाकार चित्रा मुदगल अपने एक साक्षात्कार में कहती हैं- 'बदलते वक्त ने अपनों को अपनों से छीन लिया है। पहले हमारे बुजुर्ग संरक्षक और शासक की भूमिका में रहते थे, लेकिन आज बदलते परिवेश की बदलती पारिवारिक स्थितियों में बोझ की तरह हो गये हैं...माँ-बाप के साथ-साथ बच्चों की जवाबदेही बनती है कि कौटम्बिक संवेदना को जड़ न होने दें।

इसी क्रम में ज्ञानदेव मुकेश की लघुकथा 'ऑनलाइन बेटा' का अंतिमांश द्रष्टव्य है- 'माँ की आँखें डबडबा गयीं। उन्होंने कहा, 'हाँ बेटा, तुम्हारी सभी ऑनलाइन चीजें मिल गयीं। बड़ा अच्छा लगा। तेरी कमी नहीं

खली।

तभी पिता ने पत्नी से फोन ले लिया और बेटे से कहा, मेरे ऑनलाइन बेटा, मुझे भी सब कुछ बड़ा अच्छा लगा। मगर बेटा, दिल नहीं भरा। मेरी विनती है। कभी ऑफलाइन भी जरूर होना।

हिन्दी साहित्य जगत् में पठन क्षीण हुआ है, यह स्वीकार करने में किसी को आपत्ति नहीं होगी। जितनी पत्रिकाएं हैं, उतने पाठक नहीं और आश्चर्य यह है कि इसके पश्चात् भी पुरस्कार और प्रकाशन निरंतर क्रम में हैं। मोबाइल अथवा इंटरनेट तकनीक ने संपर्क तो बढ़ाया, परंतु संवेदना को चूस लिया है। हम पास हैं तो तकनीकी से, दूर भी हो रहे हैं, तो तकनीकी के कारण, पास होकर भी अपनी हथेलियों तक सीमित हैं और प्रायः प्रत्येक संवाद के लिए तकनीकी पर निर्भर हैं! इस तकनीकी संवाद में सुविधा है, सुख नहीं, साहित्य इसी परिवेश से आज अपनी प्राणवायु ले रहा है, तो क्यों न आज के इस साहित्यिक युग को 'तकनीकी प्रयोगवादी' युग का नाम दिया जाए! उत्तर आधुनिक युग से पूर्व हम आचार्यों द्वारा सुझाए प्रयोगवादी युग को ही स्वीकार कर चुके थे, अब सम्बन्ध से संवेदना तक 'तकनीक' ही जब हमारा माध्यम है, तो हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तिमूलक नामकरण परम्परा में हिन्दी साहित्य के इस युग को 'तकनीकी प्रयोगवादी युग' कहना वस्तुतः समीचीन ही होगा!

संपर्क : 9412956361

## मेरी कविताएं अछूत विषयों पर केंद्रित हैं!

अरुण शीतांश

मनुष्य का जीवन दिनों दिन कठिन होता जा रहा है। हम एक ऐसे समय में रह रहे हैं जहां आधुनिक तकनीक की दुनिया सर पर सवार है। हमारे वे अनुभव जो गाँव से प्रसूत थे छूटते चले गये। गाँव शहर में बदल गया और गायब हो गया। हम जिंदगी की सुख-सुविधाओं की तलाश में शहर-दर-शहर भटकने लगे। प्रकृति को छोड़ हमारी सोच सिर्फ और सिर्फ भौतिक जीवन से टकराती रहती है और हम संवेदनहीनता के शिकार होते चले जा रहे हैं।

साहित्यकार जो होता है वह आशावादी होता है और सकारात्मक बातें सोचता है, एक कवि दुनिया के बारे में सोचता है। वह गांव के बारे में ही नहीं सोचता है। उसका गांव के बारे में सोचना दुनिया के बारे में सोचना हो जाता है। इसलिए कभी-कभी यह आरोप लगता है, जो कि गलत है। हमने अपनी शैली गाँव से विकसित की हैं। अगर हमसे कोई पूछे कि आपकी कविताएं औरों से अलग कैसे है? तो मेरा जवाब यह होगा कि मेरी कविताएं अछूत विषयों पर केंद्रित हैं! इस तरह के विषयों को लेकर मैंने रचनाएं लिखी हैं और उस को आगे बढ़ाया है, और पाठकों ने उसे पसंद किया है। हम यह नहीं कह रहे हैं कि हम बहुत ही बेहतर लिख दिए हैं। बल्कि हम यह कह रहे हैं कि हम बेहतर लिखने की कोशिश में हैं। बावजूद हमारा सामाजिक सरोकार इतना बना हुआ है कि हम बेचैन रहते हैं। हम हर बार कुछ सोचते रहते हैं। एक अंदर से सोच हमेशा विकसित होती रहती है। इस तरह हम आगे की ओर बढ़ते हैं और उसको रचनाओं में डालते रहते हैं। आज की रचनाएं बिल्कुल बदल चुकी हैं। ऐसा कहा जाता है कि उसके पाठक वर्ग नहीं हैं। यह मुद्दा बिल्कुल अलग हो जाएगा। तो मैं उस विषय में नहीं पड़ना चाहता। पहले भी पाठक थे। बल्कि आज भी सोशल मीडिया में आ जाने के बाद पाठकों की संख्या पहले से ज्यादा हो चुकी है। इसलिए हमारी कविताओं के पाठक संतोषप्रद हैं और उनका मैं सम्मान करता हूँ। मैं उनके प्रश्नों का जवाब देता हूँ। उनसे वार्तालाप करता हूँ। यानी हमारा सरोकार कहीं ना कहीं अपने पाठक से जुड़ा हुआ है।

कविता नदी की धारा की तरह हमेशा कल-कल, छल-छल, करते हुए बहती रहती हैं, हम उसे रोक नहीं सकते हैं। वह कहीं ना कहीं अपना रास्ता बना ही लेती है। तो हमारी कविता भी उसी तरह से एक रास्ता बनाती है, बल्कि आने वाली पीढ़ी भी अपनी कविताओं का रास्ता बनाएगी और उम्मीद करता हूँ कि ऐसी कविताएं जो आम जन के लिए लिखी जाएंगी। वह अवश्य ही पढ़ी जाएंगी और गुनी जाएंगी।

इसलिए हम जो विषय छोटी-छोटी जगहों से उठाते हैं। और दूर तक उन चीजों को ले जाते हैं। वहां जो छोटी चीजें जाकर टकराती हैं। उनसे जो आकर्षण होता है। वहां कविता की जो बातें हैं। वह खलकर आ जाती हैं। वह समाज के लिए बेहतर बन जाती है...!

हम भी एक ऐसे देश में रहते हैं

कोई शिशु अनजान नहीं लगता

न कोई वृक्ष

न कोई फल

न कोई फूल

न आकाश

न धरती और

न कोई स्त्री के पाँव

दुनिया के पत्थर अनजान लगते हैं

पत्थर दिल इंसान

गिलहरी के घायल कान

किसी घोड़े के पैर में ठोके गए नाल

जाली से झाँकते किसी अन्य राज्य के सांसद

हरा पौधा अनजान नहीं लगता

बहुत अनजान लगता है

लपेटकर रखा लोहे का चदरा

मक्खन बिल्कुल अनजान

नहीं लगता या

किसी देश का कवि

स्त्रियों के माथे की बिंदी

अनजान लगती है

जिससे बदल जाता है

चेहरा. प्यार. हाव-भाव और तिखी आवाज

अपनी रचना अनजान नहीं लगती

आम आदमी के लिए

संसद का दरवाजा अनजान लगता है

कोई भी शिशु दूध पीते अनजान नहीं लगता

माथा चूमने का मन करता है

स्पर्श करने का जी उठता है हाथ

हम भी एक ऐसे देश में रहते हैं

जहाँ रेलगाड़ी पलट जाती है कुछ दिनों बाद

जिसमें शिशु, फल, फूल, स्त्री और

अनजाने चेहरे होते हैं साथ

थोड़े से अपने जैसे....!

मन नदी किनारे ही लगता है

नदी के किनारे से ही

बहुत कुछ बहता है...

जैसे प्रेम

मन नदी किनारे ही

लगता है

नदी के पास बैठना ठीक है

किसी राजनेता से हटकर...

वह नदी और कवि को

जी-जान से न देखे तो ठीक

हम नदी से बने हैं

लेकिन नदी हमसे रुठ गई है

वृक्षों और पौधों को नदी के पास देखकर

अच्छा लगता है

यहां तक की गिरे हुए पत्ते

गिरा हुआ मनुष्य भी वहां

सुंदर हो जाता है

लेकिन वह हत्या करता है-

पेड़ों की...!

नदी किनारे कंकड़-पत्थर

सब मत फेंको

नदी फेंक देगी एक दिन तम्हें

चाहे लाख नदी पर

राजनीत करो...

गीत गाओ

सोहर, झूमर, खिलौना, सांझा-पराती. जांतसार.  
मंगलगीत, परिछावन. कोहबर.  
पीडिया...

नदी तो जननी है  
नदी में रात उतरनी है

### रोटी

हवा सब जगह बह रही है  
यह बात वैज्ञानिक से पछने की जरूरत नहीं है  
जरूरत है कि  
आज रोटी किसने नहीं खायी या बनाई  
इतनी सारी पुस्तकें हैं दुनिया में  
जिनमें विचारों के खजाने हैं  
रोटी कैसे नहीं बन रही है घरों में  
यह भी प्रश्न उन तक पहुँच रहा होगा

प्रिये! तुम रात को फूल तोड़कर मत दो  
रोटी तोड़कर दो ताकि  
दिल्ली दरबार में गरज कर या चाकू के बल पर  
या तलवार की नोक पर टाँग दें तिरंगे की तरह  
मुझे अपने तमाम बच्चों और सैनिकों के लिए  
चिन्ता हो रही है  
बजाय पुस्तक संग्रह देखने बनवाने और दिखाने के  
पुस्तकें दुनिया की ढेर में बड़े आराम से  
शामिल हो जाएँगी  
और नीम का पेड़ पास में कट रहा होगा।

मृतात्माओं से जाकर क्या कहेंगा  
कि छल हो रहा है  
मनुष्य के सामने और सरकार के  
ठीक नाक के नीचे  
इतनी ठंड और इतनी धूप के बीच  
आसमान के नीले आँगन में एक खिडकी खल  
जाती हमारी तो क्या दिक्कत थी

पृथ्वी की तमाम ऊर्जा अकेले कैसे चुरा सकता हूँ  
जब रोटी का स्वाद कंठ तक नहीं आ रहा  
थूक कितनी बार घोटें  
और सो जाऊँ

रात को खर्च नहीं करना चाहता  
दिन तो रोटी की तलाश के लिए है  
रोटी जो किसी मंत्री के तसले में ब मार रही है

मेरी रोटी घर में है  
जिसे बाबा ने छोड़ रखा है कछ कठठे खेतों में  
वहाँ आलू कबर रहा है  
रोटी नहीं

अब पृथ्वी को रोटी बनानी पड़ेगी  
और आकाश को पानी.....

### चोंप

पारिस्थितिकी संतुलन के लिए हर घर में  
एक बागीचा चाहिए  
पेड़ों में फल हो  
छोटे पौधों में फल  
रोज नई घटना की तरह  
बना रहे संदर पर्यावरण  
जंगल की तरह घेरे में पक्षियों के कलरव  
घोड़ों का टॉप सुनाई दे  
ठक ठक ठक ठक  
शब्द हवा में

कोई माउस लैपटॉप न हो और मोबाईल  
बस  
संवाद हो निश्चल हँसी के साथ भरपर  
आम का पेड़ खब हो

जिस पर बैठकर ठोर से मारे मनभोग आम पर  
एक दिन गिरे तो चोंप कम हो  
धोकर खा जाँए सही सही  
मँह में चोंप का दाग हो कोई बात नहीं  
हर भारतीय को नसीब कहाँ  
बाल्टी में भरकर खा लें भरपेट आम  
कुत्ता बेचारा खा नहीं सकता देखता है  
कातर नजर से  
बच्चे हुं हां करते ओ ओ ओ  
आ आ आ आ आ  
दौड़ते भागतें भैंस गाय के साथ  
चिलचिलाती धूप में  
माँए गाली देती  
अरे अरे! खा ले खा ले ल लग जड़हें  
महआ को पसारती

सुखाती भांडी में रख आई  
नयका चाउर के भात का माड कत्ता खाता  
चपर चपर चपर  
चमकती बिजली की तरह टाल का खेत  
कौंधती धमकती आँच लहकती सी देह  
तप्त पसीने से सराबोर  
पेंड़ की छाँव हीं काम आया  
गमछी बिछाकर...  
दू बात सबसे करके  
सानी पानी गोबर डांगर सब निफिकीर  
पीते हए पनामा सिगरेट  
जो पनामा नहर को याद दिलाती है किसानों को  
कल पेड़ और खेत के गीत गाए जाएंगे  
रोपे जाएंगे फसल  
रात भर भरे जाएंगे  
खेत...

**परिचय :** अरुण शीतांश जन्म 02 नवम्बर 1972, अरवल जिला के विष्णुपुरा गाँव में।

**शिक्षा :** एम. ए. (भूगोल व हिन्दी), एम लिब साईंस, एल. एल. बी., पी. एच. डी.।

**इनकी प्रमुख कृतियाँ हैं :** 'एक ऐसी दुनिया की तलाश में', 'हर मिनट एक घटना है', 'पत्थरबाज' (कविता-संग्रह), 'शब्द साक्षी हैं' (आलोचना), 'पंचदीप', 'यवा कविता का जनतंत्र', 'बादल का वस्त्र (केदारनाथ अग्रवाल पर केन्द्रित)', 'विकल्प है कविता'।

**संप्रति :** शिक्षण संस्थान में कार्यरत

**संपर्क :** मणि भवन, संकट मोचन नगर, आरा भोजपर-802301

**मोबाईल :** 09431685589



## सुनील कुमार द्विवेदी

### कछ भी चौकाता नहीं लोगों को

कठिन है बता पाना कि  
वह,  
जो खड़ा है वहाँ,  
जहाँ खत्म होती हैं सारी सीढियाँ.  
वह उन पर चढ़ने वाला है  
या चढ़कर उतर चका है?

वह  
जानता है, बूझता है. बोलता है-  
एक ऐसी भाषा  
जिसके शब्द रोज  
एक अलहदा मलतब लेकर जीते हैं  
और दिन के चुकते न चुकते  
खो देते हैं अपने पुराने अर्थ  
क्या उसकी भाषा मर रही है  
या विकासमान है?

उसे विस्मृति की परेशानी है:  
वह रोज नए सिरे से  
पहचानने की करता है शुरुआत-  
अपना अतीत,  
अपना वर्तमान।  
क्या वर्तमान से  
अनचिन्हेपन की सरत में  
उसका भविष्य  
बन जायेगा बिखरे संदर्भों का पंज?  
उसकी दुनिया में  
शामिल नहीं-  
पहाड़, जंगल, सागर  
और आसमान।  
बंधक हैं-

उसके देश की शुद्ध वायु और जल।  
चुकाई गई कीमत का  
हासिल हैं-  
मिट्टी, वनस्पतियाँ  
और मौसम।  
क्या वह बिना पूंजी  
खरीद पाएगा प्यार और दोस्ती?

बेमतलब घिसटती  
इस जिन्दगी के,  
कुछ पल खर्च कर,  
कुछ शुक्ल अदा कर.  
करना है उसे,  
अपनी मौत का नियोजन:  
ताकि हासिल हो उसे.  
चैन से भरी,  
एक अदद मौत।  
उसके समाज में अब  
कुछ भी चौकाता नहीं लोगों को.  
यहां तक कि-  
मौत से पहले,  
बाज़ार में बिकती,  
दस-कर्म व्यवस्था भी।

### चोर

पहले उसने घर की जड़ें खोदीं.  
बनायी एक सुरंग.  
चूहे के बिल से.  
सांप की तरह  
दाखिल हुआ वह घर में.  
और नापता रहा,  
घर के कमरों की जमीन.

दे दी उन्हें नई शक्ति.  
खड़ा कर गया,  
उन्हें आमने-सामने.  
कल रात  
घर में चोर आया था।  
मुझे सोता देख  
चुरा ले गया वह मासमियत.  
और मेरे सपने।  
आंखों से सुरमा क्या चोरी होता!  
आंखें ही चोरी हो गयीं।

फिर वह दाखिल हुआ  
मेरे मन की ज़मीन पर  
चरा लीं मेरी संवेदनाएं।

इसके बाद  
दिमाग की आलमारी के ताले तोड़  
चुरा ले गया वह  
मेरी स्मृतियाँ-मेरा अतीत  
वह मुझे मुझसे ही चुरा ले गया।  
सुबह नींद खलने पर.  
मैंने पाया,  
मेरी दुनिया बदल चकी है.  
वहां हवा.  
फूल,  
फल,  
शब्द,  
सब गायब हैं,  
यहां तक कि,  
मेरे आंगन में पजित.  
तलसी भी।

चोर अजीब था,  
जहां से जो भी उठाता,  
वहां उसका विकल्प रख जाता

पूरा का पूरा घर ही.  
चुरा लिया गया।  
हर तरफ कुहराम मचा था,  
पर चोरी होने के कारण नहीं  
क्योंकि  
दिन के उजाले में भी,  
किसी को चोरी होने का.  
एहसास भी न था।

### शहर से परिंदे गायब हैं

पहले पेड़ से,  
गायब हुए फल.  
फिर फूल,  
फिर पत्तियां,  
फिर डालियां,  
धीरे-धीरे पूरा पेड़  
फिर पूरा जंगल।  
पहाड़ अब,  
पहाड़ की तरह नहीं खड़ा.  
वह इतना बौना है कि-  
बादल उसे ठेंगा दिखाकर,  
भाग जाते हैं दूर बिन बरसे।  
अबकी सावन सूखा रहा,  
ठंडी पड़ गई सदियों की ठंड।  
मेरी दुनिया में शामिल.  
एक और दुनिया  
जहां रहती थी मुनिया  
अब भूले से ही दिखती है।  
शहर से परिंदे गायब हैं।  
गायब है आसमान-  
लोगों के सिर से,  
और पैरों के नीचे से  
निकल गयी ज़मीन।  
संपर्क : 9832316773

## बैलन लिए दौड़ता बच्चा

उभरे पत्थरों  
गड्ढों भरी सड़क पर  
हाथों में बैलून लिए  
दौड़ता बच्चा  
विरासत में क्या दोगे इसे,  
कमरों में बंद होता आसमान  
या खंडहरों में बदलता  
आने वाला मकान  
आखिर क्या दोगे इसे  
रंग फूल तितली  
नदी गीत झरने  
या मुर्दा पड़े हिरन से  
आंखों में सपने  
जुड़ने की सोच या  
एक अंधी भीड़ का फैलाव  
एक अर्थहीन चेहरा  
गूंगा और बहरा  
दीवारें उठाने को  
हाथों में ईंट  
या मुट्ठी में छेनियां  
आखिर क्या दोगे इसे.

हवाओं में घुलता जहर  
बीमार उजालों का शहर  
मरते गांवों का देश  
जलती बारूदी गंध  
या माटी की सोंधी सुगंध  
आखिर क्या दोगे इसे!

## बीसवीं सदी के अंत में

अरसा पहले  
कुछ लोगों ने किया था  
ऐलान  
कविता और ईश्वर की  
मृत्यु का,  
क्या ऐसा कछ हुआ!  
अलबत्ता जो हुआ  
इस गुजरी बीसवीं सदी में  
देख रहा हूं उसे  
अपने पूरे होशो-हवास के साथ  
जगह जगह पसरी पड़ी है  
आशा आस्था विश्वासों की  
क्षत विक्षत लाश,  
रुदन और हाहाकार में  
डूबी है धरती  
उड़ रहे हैं गिद्ध  
अपने भयानक डैने फैलाए  
दूर दूर तक धूसर आसमान में  
काला और काला  
पड़ता जा रहा सूरज  
अंधेरों में खोने लगा  
सब कछ इस पृथ्वी पर.

कालाहांडी और सोमालिया  
नहीं है केवल एक भौगोलिक शब्द  
या इस धरती का एक बेजान टुकड़ा  
यह एक भयावह सच है  
हमारे समय का  
जो बार-बार उग आता है  
हरी नर्म दब सा

आंकड़ों उपलब्धियों के झूठ की  
नक्काशीदार कब्र पर.

हर सुबह दिखती है  
अखबार की सुखियों में  
हत्या दंगे फसाद  
औरतों को जिंदा जला देने की घटनाएं  
जिन्हें पढ़ता है आज का आदमी  
सरसरी निगाह से  
सिर्फ एक खबर की तरह.

गैस हादसा हो भोपाल का  
या खाड़ी देशों का युद्ध  
देखते हुए टी वी स्क्रीन पर  
दुधमुँहे बच्चों जीव-जंतुओं की  
मर्मांतक मृत्यु के दृश्य  
कहीं कुछ भी नहीं करता महसूस.  
चाय-काफी की चुस्कियों  
मीठे नमकीन बिस्कुटों का लेते हुए स्वाद  
उठाता है लस्फ मनोरंजन का.

सोचिए और कहिए  
अब आप ही  
एहसासों का पथरा जाना  
क्या नहीं है मर जाना  
हमारे भीतर के मनष्य का!

### जीवन के दस्तावेज पर

अक्सर कुरेद जाता है  
बहुत गहराई से  
वह सब कुछ,  
कच्ची मिट्टी की  
दीवारों के सहारे  
आंगन में उतरती  
गनगनी धप

अपनी पूरी मजबूती के साथ  
खड़ा दरवाजे का महुआ  
हाते का नीम, सहजन. कटहल  
पिछवाड़े से ही  
नजर आने वाला  
पुराना पोखर  
डीह का बड़ा कंआ.

आंतों की तरह  
जाड़ों की लम्बी रातें  
सच ही लगने वाली  
किस्सों की बातें  
मौसम के बारे में  
दुखिया चाचा की बतकही  
वह सब  
जीवन के दस्तावेज पर  
एक अमिट सही.

पगडंडी से सड़क तक  
एक लम्बी छलांग  
सारे रिश्ते नाते  
सब कुछ फलांग  
आ गया  
बिना सींग खुर वाले  
चेहरों के बीच  
स्याह आंखों वाले  
सफेद चेहरे  
गूंगे और बहरे  
सड़क चलते किसी की भी  
दुर्घटना में हुई मौत  
नहीं कोई खास बात  
आज दिन होता है ऐसा.  
आता है याद  
दीनू की बछिया का  
वह अचानक मर जाना

फूट-फूट रोती  
उसकी घर वाली  
सुबकते बच्चे  
दरवाजे पर जुड़ी  
गांव की भीड़,  
कैसा तो लगता है  
सोच कर.  
जब भी

तलाशना चाहा है यहां  
कोई आत्मीय सम्बोधन  
हाथ आई रिश्तों की सखी नदी  
रेत के महल,  
गड़ने लगती है आंखों को  
बल्ब की दूधिया रोशनी.  
चाहने लगता है मन  
बेलाग रिश्ते अपनापन!!

संपर्क : 8961272416

## रजनी अनुरागी

### हमारी कविता

तुम कल्पना पर होकर सवार  
लिखते हो कविता  
और हमारी कविता  
रोटी बनाते समय जल जाती है अक्सर  
कपड़े धोते हुए  
पानी में बह जाती कितनी ही बार  
झाड़ू लगाते हुए  
साफ हो जाती है मन से  
पौछा लगाते हुए  
गँदले पानी में निचड जाती है  
साफ करते हुए घर के जाले  
कहीं उलझ जाती है अपने ही भीतर  
और जाले बना लेती है अनगिनत  
धूल झाड़ते हुए दीवार से  
सूखी पपड़ी सी उतर जाती है  
टॉवल टाँगते समय

टँग जाती है खँटी पर  
सूई में धागा पिरोते-पिरोते  
हो जाती है आँख से ओझल  
छेद-छेद हो जाती है  
तुम्हारी कमीज़ में बटन टाँकते  
बच्चों की चिल्ल-पों में खो जाती है  
मिट्टी हो जाती है  
गमलों में देते हए खाद  
घर-बाहर सँभालते सहेजते  
तुम्हारे दंभ में दब जाती है  
और निकलती है किसी आह सी  
जैसे घरों की चिमनियों से  
निकलता है धँआ।  
अगर पढ़ सको तो पढो  
हमको ही  
हमारी कविता की तरह



हम औरतें भी  
एक कविता ही तो हैं।

### स्त्री : एक

एक स्त्री अपना वो घर खाली कर गई  
जो उसका कभी हुआ ही नहीं  
जिसकी लिपाई में उसके पसीने की  
अनगिनत बूंदें समाई थीं  
आशाओं के रंगों से रंग दी थी हर दीवार  
आंगन में उगाया था अमरूद का पेड़  
क्यारियों में खिलाए थे गेंदे के फूल  
रात की रानी थी दिन में जवाकुसुम  
सबकी खुशियों में रहती रही सदा खुश  
अपने दुखों को चिपका लिया था तालु से  
धीरे धीरे वो अपना नाम भी भूल गई थी  
वो सोनू की माँ थी,  
मन्नू की भाभी रमेश की घरवाली  
एक दिन उसने बहुत कोशिश की  
अपना नाम उसे याद आया नहीं  
उसने इस बाबत बहुत आवाजें दी  
कोई प्रतिउत्तर मिला नहीं  
वो बैचेन थी  
कुछ बुदबुदा रही थी लगातार  
उसकी खुशी जब हुई बेपर्दा  
सारे घर के रंग भी मिलकर  
उसकी आँखों को कोई रंग न दे सके  
देर तक खड़ी रही अमरूद गाछ तले  
चमकते तारों सी अचानक  
चमक उठी उसकी आँखें

उसने पहचान लिया अपने वजूद को  
उसके हाथ खद को टटोलने लगे

### स्त्री : दो

बकबक करती स्त्री को ध्यान से सुनो  
उसमें तुमको जीवन के वो गीत मिलेंगे  
जो वो गाना चाहती थी और नहीं गा सकी  
उसमें तुमको वो धुन मिलेगी  
जो कहीं दबी रह गई भीतर, झंकृत न हो सकी  
उसमें तुमको वो गंज मिलेगी जो अनन्त में खो गई  
उसमें तुमको वो हास मिलेगा  
जो होठों में सील कर रह गया  
उसमें तुमको वो सिसकी मिलेगी  
जो रुदन न बन सकी  
उसमें तुमको वो चुम्बन मिलेगा  
जो दिया नहीं जा सका  
उसमें तुमको वो लोरी मिलेगी  
जो कहीं दूर चली गई  
उसमें तुमको वो आसक्ति मिलेगी  
जो अनासक्ति बन गई  
उसमें तुमको नृत्य मिलेगा  
जो वह करना चाहती थी  
उसमें तुमको वो दृश्य मिलेंगे  
जो वह बनाना चाहती थी  
उसमें तुमको वह दुनिया मिलेगी  
जो वह रचना चाहती रही है  
उसमें तुमको बहुत कुछ मिल सकता  
अगर सनना चाहो तो

संपर्क : 9013628716

## तममें विदा करने से पहले

तुम्हें विदा करने से पहले  
तुम्हारी केशराशि के घने बादलों में  
मैं चांद सा चमक रहा था  
किसी तितली की मानिन्द  
मैं उड़ा तुम्हारी आंखों में

मैंने सही जगह रखा तुम्हारा सामान  
जैसे रखा हो मैंने अपना दिल  
तुम्हारे सीने में

मैंने समन्दर की तरह हहराते  
अपने दिल को  
शांत करने की बहुत कोशिश की  
करता रहा लगातार हँसते रहने की कोशिश  
और हर घड़ी यह भुलाता रहा  
कि मैं तुम्हें विदा करने आया हूँ  
तुम्हारे साथ नहीं जा रहा हूँ

तुम्हारे होठों से फूटते  
प्यार भरे शब्दों के ज्वार में  
बह ही जाता मैं  
मगर संभालता रहा खद को

फिर एक चाय की प्याली  
पी तुम्हारे संग  
जैसे आखिरी प्याली हो जीवन की

फिर जैसे ही सायरन बजा  
हृदय में उमड़ी जोरदार उमंग  
कि लपक कर छाती से लगा लूँ तुम्हें  
मगर बहुत लोग थे हमारे आस-पास  
सिर्फ लपक कर हाथ मिलाया तुमसे  
ये सोचकर कि कहीं ये मौका भी छट न जाए

और कहा अलविदा

और तुम्हें विदा करने के बाद  
मैं लौटा ही नहीं आज तक

## विदा इन दिनों

उसको मैंने विदा किया  
मेरे ना चाहने पर भी

उसके लाख मना करने पर  
मैंने भी ज़िद की  
कि कम से कम  
आखिरी सुरक्षित मकाम तक  
उसके साथ जाऊँ  
अंजाम चाहे जो हो

ये शायद उसको भी पता है  
कि ये वक्त  
एकदम अविश्वसनीय है  
न जाने कहां से  
निकल आए कोई खंजर  
और आपका दिल छलनी कर दे  
पर उसने कहा  
तुम घर जाओ  
मैं चला जाऊंगा  
मैं बड़ी देर तक सड़क पे खड़ा रहा  
उसको निहारता

धीरे-धीरे  
वो मेरी आंख से  
ओझल हो गया  
कुछ धुंधलाता हुआ  
दिखता रहा मुझे  
विदा में हिलता हुआ

एक हाथ  
चमकती हुई दो आंखें  
बस मेरे भीतर  
दिखते से रहे  
धीरे-धीरे  
सब धुंधला गया  
मैं वहीं खड़ा रहा अविचल  
फिर मैंने उसे फोन लगाया  
(यह सुविधा पिछली सदी में नहीं थी)  
उसने कहा  
कि मैं सेफ हूँ  
उसे क्या पता  
कि इतनी ही देर में  
मुझे याद आये  
जर्मनी के हॉलोकास्ट  
उनमें झोंके गए  
'शिण्डलर्स लिस्ट' के बाहर रह गए  
मार तमाम लोग  
शॉवर के नाम पर  
गैस चैम्बर में धकेली गई  
अपनी प्रेमिका  
जो आखिरी वक्त तक  
इंसान होने के गुरुर से भरी थी  
और लाल फ्रॉक वाली  
वो लड़की  
(जो मेरी बेटी ही थी)  
जो अंततः  
अपनी फ्रॉक में ही समा गई  
मैं किसी घेतो के खशमिजाज  
बंजारे की तरह  
अपने चप हो गए वायलिन को लिए

अपनी मृत्यु के इंतजार में  
बैठा रह गया  
मुझे याद आई  
निकोलाई की बेरा  
दांते की प्रेमिका  
सुखोम्लिंस्की और मकारेंको के बच्चे  
मायकोवस्की की आत्महत्या से  
पहले लिखी कविता  
जो एक और युद्ध के मुहाने पर बैठे हुए  
दुनिया में एक नए बसंत के आने का  
ख्वाब देखते रह गए

समय  
अब भी वहीं है  
जहां उसे मैंने  
पिछली सदी में छोड़ा था  
मैं अभी भी वहीं खड़ा हूँ  
समय की उसी वीथी पर  
समय अभी भी  
वहीं है  
पता नहीं  
मैं ये मेरे दोस्त को  
पता है कि नहीं  
राह सूनी है  
पर उसका हाथ  
अब भी बिदा में उठता है  
और मैं अपनी नींद में  
जागते हुए  
अभी भी वहीं खड़ा हूँ  
अपने दोस्त की सलामती में  
हाथ हिलाता हूँ

संपर्क : 9873134564

## बेटी का घर

पैसेंजर ट्रेन के इस डिब्बे में  
गिनती के मुसाफिरों के बीच  
गुमसुम एक कोने में  
बैठी है माँ  
चेहरे की झुर्रियाँ उदास हैं  
आँखें नाप रही हैं धंधली दरियाँ

अपनी गठरी को कस कर थामे  
खिड़की से देख रही है बाहर  
तेज-तेज भागते  
पेड़-पौधे  
खेत-खलिहान  
किसान-भगवान  
मर्द-मेहरारू  
बच्चे-कच्चे  
कुकुर-बिलार  
चिड़िया-फल  
घर-द्वार

मीलों दूर से  
देखती चली आ रही है  
बेटी का चेहरा  
सुनती आ रही है  
नाती-नतनी के मीठे बोल

माँ सफर में  
कुछ भी नहीं खाती  
खाते वक्त याद आता है  
बेटी का झालमुड़ी लेकर आने का आग्रह  
इंतजार करती है झालमुड़ी वाले का  
उसकी हांक सुनते ही  
हो जाती है चौकन्नी

आते ही फटाक से खरीदती है झालमुड़ी  
बांध लेती है आँचल में बेटी की फरमाइश  
मूंगफली के दाने टूंगते बच्चों को देख कर  
याद आते हैं नाती-नतनी  
मूंगफली खरीद कर संभाल लेती है  
ता कि बेटी के घर पहुँच कर  
उन्हें दे सके  
सोंधे प्यार के साथ मूंगफली का ठोंगा  
खिलौने वाले को देख कर  
फड़क उठता है उसका मन  
कुर्ती की जेब में बड़े ही जतन से रखे  
चन्द तुड़े-मुड़े नोट कलबला उठते हैं  
मोल-भाव के बाद  
वह खरीदती है  
छईयाँ-छईयाँ रिंग टोन वाला मोबाइल  
प्लास्टिक की गुडिया  
क्रिकेट का बल्ला  
रंग-बिरंगा फुटबॉल  
प्रधानमंत्री का मखौटा

चलती ट्रेन में  
बाजार करती है माँ  
खुश होती है  
इतना कछ खरीद कर

सुबह से शाम होने को है  
बड़ी लंबी दूरी तय कर चकी है माँ  
फिर भी दूर है  
बहुत दूर है  
अभी बेटी का घर।

डर

कोई आवाज दे रहा है

कौन हो सकता है  
यह पहचानी हुई सी आवाज तो नहीं है  
मैं चलता चला जा रहा हूँ  
फिर  
फिर  
आवाज आ रही है  
घुप्प अंधेरे में  
सुनसान सड़क पर  
अंधेरे की पुकार की तरह पकारना  
थोड़ा-थोड़ा सा डरा रहा है  
आवाज के और पास आने की आस लगाए  
सामान्य गति से आगे बढ़ता जा रहा हूँ  
धप्प-धप्प की आवाज  
पास आ रही है  
आती जा रही है  
एकदम पास  
मैं जरा किनारे हट कर  
पीछा करती आवाज को  
रास्ता देना चाहता हूँ

मगर आवाज है  
कि पीछे ही रह जाती है  
पीछे मुड़े बगैर  
आगे बढ़ता जा रहा हूँ  
सोच रहा हूँ  
कि यह कैसी आवाज है  
जो मुझे डरा रही है  
फिर सोचता हूँ  
कहीं पीछे आने वाली आवाज को  
मझ से तो डर नहीं लग रहा है  
डरते-डरते अपने दरवाजे तक आ गया  
यहीं खड़ा रहूँगा  
उस डराने वाली या डरने वाली आवाज को  
देखने के लिए  
उस से यह कहने के लिए खड़ा रहंगा  
कि तुम्हें डर लगे तो  
मुझे आवाज देना  
पकार लेना कहीं से भी।

संपर्क : 9798355202



## उसे देखा था

खुदखुशी थी  
या भूख  
की भेंट  
चढ़ गई थी  
यह सवाल  
रह-रहकर  
मुझे बेचैन  
कर रहा है  
कुछ दिन  
पहले उसे  
देखा था  
एक बच्ची  
के साथ  
हँसते, खेलते  
खुला आकाश था  
उसका आशियाना  
आज वह  
ठंडी पड़ी  
हुई थी  
चिर निद्रा  
में सोई  
हुई थी  
पास जो  
बैठी हुई  
थी उसकी  
अपनी नन्ही सी  
जान थी  
जिसका बाप  
कोई शातिर  
दरिंदा अपने

कातिलाना अंदाज  
में किसी  
दूसरे गुनाह  
की फिराक  
में था  
रोज की  
तरह आज  
फिर मैं  
वहाँ से  
गुजर रहा हूँ  
जहाँ वह  
ठंडी पड़ी  
चिर निद्रा  
में सो  
रही है  
चुनौती भरे  
सवाल हवा  
में गुँज  
रहे हैं  
आखिर कब तक  
चलेगा यह  
सिलसिला  
किसी की  
तो जबाबदेही  
तय करनी होगी  
यह अनुतरित  
प्रश्न मुझे  
आज भी  
बेचैन कर  
रहा है।

## बढ़ा

मूँज की  
खाट पर  
बैठा वह  
दार्शनिक अंदाज  
में आकाश  
की ओर  
टकटकी लगाए  
देख रहा है  
सूखा है  
भीषण सूखा  
माटी जलकर  
राख बन  
रही है  
चैतू के  
भाई ने  
परसों जान  
दे दी  
झूल गया  
पिछवारे वाले  
बरगद की  
डाल पर  
सरकारी महकमा  
कहता है  
किसी असामाजिक  
कार्य में  
लिप्त था  
भाई बताता  
है दो  
दिन से  
भखा था

मूँज की  
चारपाई पर  
बैठा बूढ़ा  
फिर दार्शनिक  
अंदाज में  
कुछ बड़बडाता है  
पास से  
चीखने, चिल्लाने  
और रोने  
की आवाज  
आती है  
सवाल हवा  
में गुब्बारे  
की तरह  
उड़ने लगते हैं  
बूढ़े की  
धमनियों में  
एकाएक रक्त  
संचारित होने  
लगता है  
मांगने लगता  
है सवालों  
का उत्तर  
उन्हीं से  
जिन्होंने कैद  
कर रही है  
है दुनिया  
अपनी मट्टी में

### कोयला तोडती

वह कोयला  
तोड़ रही थी  
जनतंत्र के  
चेहरे पर  
कालिख पोत  
रही थी  
वर्षों पहले  
जो पत्थर  
तोड़ रही थी  
इसी की

गोतिया थी  
इसके पुर्खें  
कोयल बीनते थे  
ये कोयल  
तोड़ रही थी  
सत्तर साल  
के माथे  
पर कलंक  
का टीका  
लगा रही थी  
बता रही थी  
चार-आना

मिलते थे  
पहले जब  
सुराज नहीं  
आया था  
आज एक  
रूपया मिलता  
है एक  
किलो तोड़ने का  
सुना है  
आज़ादी आयी है  
चवन्नी में  
रूपया लार्ड है

खली चूल्हे  
की कोख  
में अंगीठी  
सुलगा रही थी  
वह कोयले  
पर कोयला  
तोड़ रही थी  
ज़हरीली हवा  
में कुछ  
घोल रही थी।

संपर्क : 9830887448

### ‘भक्तांचल’ प्राप्ति स्थान

1. आनंद प्रकाशन, 176/178, रवीन्द्र सारणी, कोलकाता-700007
2. अधिकरण प्रकाशन, दिल्ली, मो. 9716927587
3. उत्सव सिन्हा, मुम्बई, मो. 9163443737
4. ज्ञानदीप, नियर फिरारालाल, एच. बी. रोड, रांची-834001
5. लालमणि साव बुक स्टॉल, आर. एन. साव चौक. पर्णिया-854301
6. मौर्या बुक स्टाल, लंका, वाराणसी
7. गोविंद न्यू पेपर मार्केट, कैट साइट, रेट बाज़ार, कानपुर
8. श्याम संदर गप्ता न्यज पेपर मार्केट. कैट साइट. (नियर रेलवे स्टेशन)  
कानपुर

## धंधा

सरेश कांटक

डाक्टर साहब जब से उसका घटना से लौटे हैं, बहुत चिंतित हैं। कुछ भी अच्छा नहीं लगता उन्हें। न घर न द्वार न अस्पताल न रोगी। पत्नी. बेटे की ओर ऐसे देखते हैं. जैसे वे ही कसरवार हों बीती घटना के लिए।

उस अदने से आदमी ने क्या कहा था उस दिन, बस इतना ही न कि डाक्टर साहब, वह आपका धंधा था, यह मेरा धंधा है। आपने अपना काम किया, मैंने अपना काम किया। मैं अब और कुछ नहीं कह सकता। धंधा, धंधा होता है, जैसा आपका वैसा मेरा।

बस यही इतनी सी बात, इससे अधिक कुछ भी नहीं। हां, उसने यह जरूर कहा था “डाक्टर साहब मैं आपको पहचानता हूं, आपने ही उस दिन मेरी जान बचाई थी। मेरे शरीर से गोली निकाली थी। वरना उस दिन मैं मर गया होता।”

यह बात डाक्टर साहब को अच्छी लगी थी, मन गद्गद हो गया था। उनका घने अंधेरे में जुगनू के प्रकाश सा कौंध गया था एकाएक। मन ही मन सोचने लगे थे, चलो अच्छा हुआ, जान बच जायेगी। जो भी माल असबाब है, लुटने से बच जायेगी। लगता है यह भी भला आदमी है।

किंतु ऐसा हुआ नहीं, उनके मन में उठी हुलास थोड़ी देर बाद थकस गयी, जैसे किसी खेतिहर किसान के मन में आसमान में उमड़ते घुमड़ते घनघोर मेघों को देख आखों के सामने लहरने लगता है हरा भरा खेत, किंतु तुरंत हवा का कोई झोंका तेजी से आता है किसी ओर से और बहा ले जाता है तेजी से, किसी दूसरी दिशा की ओर बादलो के सैलाब को और बेचारा किसान आंखों में बेचारगी और उदासी लिए थसक जाता है खेत की मेड पर और दिखने लगता है अपना भत. भविष्य, वर्तमान तीनों एक साथ।

डाक्टर साहब के साथ भी ठीक ऐसा ही हुआ। लुट तो गये ही, उस अदने से आदमी ने ऐसा तीर मारा उनके हृदय में कि उसकी चुभन से वे अब भी बुरी तरह बेचैन हैं। बार-बार उठती है कसक कि इतना छोटा सा आदमी उनके जैसे गुडवान. यशवान. भले और नामी गिरामी आदमी की तुलना अपने जैसे तुच्छ जीव से कैसे कर दिया!

यही बात डाक्टर साहब के कलेजे पर भारी भरकम पत्थर की तरह बैठ गयी है। वे इस पत्थर को हटाने के लिए अनवरत बेचैन हैं चाहते हैं कि किसी तरह भूल जाऊं उस दिन की घटना को और हल्का कर लूं अपने हृदय को, लेकिन यह पत्थर हटने का नाम नहीं लेता और भी मजबूती के साथ जम जाता है और बरबस याद आने लगती है उन्हें उस दिन कि घटना, जब वे अपने क्लिनिक में बैठे थे पूरे सज धज के साथ अपने रोगियों के इलाज के लिए। शाम का समय था और बत्तियां जल गयी थीं चारो ओर। रोगी देखने का समय बीतने वाला था। वे मन ही मन

अपने आवास पर जाने की तैयारी कर रहे थे। तभी उस बेहोश आदमी को लिए आये थे कुछ लोग और गिडगिडाते हुए बोले थे, “डाक्टर साहेब बचा लीजिए इसकी जान, आजीवन कृतज्ञ रहेंगे आपके। आप जो भी कहेंगे, आपकी सेवा में हाजिर कर देंगे।”

डाक्टर साहब ने मन ही मन सोचा था, जाते-जाते अच्छा मुर्गा मिला है, अच्छी कमाई कर लेनी चाहिए जान बचाने कि लालसा में जो भी मांगूंगा, देगा ही। यह सोच उन्होंने उनसे एक मोटी रकम की मांग कर दी और बिना फीस जमा किए आपरेशन करने से इंकार कर दिया था। वे लगातार उनकी चिरौरी करते रहे। अपनी गरीबी का रोना रोते रहे, दया दिखाने की प्रार्थना करते रहे लेकिन डाक्टर साहब टस से मस नहीं हुए थे। अंत में एक बुजुर्ग आदमी ने हाथ जोरकर निहोरा किया था, “डाक्टर साहेब, थोड़ी रहम कीजिए डाक्टर साहेब, पैसा आदमी की जान से बड़ा नहीं होता। जान बच जायेगी तो कमाकर आपकी पूरी फीस हम चुकती कर देंगे। आप तो देवता हैं, ईश्वर ने आप को अपना दूसरा रूप देकर धरती पर भेजा है।

नहीं भाई, घोड़ा घास से यारी करेगा तो खायेगा क्या? पहले फीस जमा कर दो फिर काम आगे बढ़ेगा। डाक्टर साहब ने अपने कम्पौंडर को आदेश दिया था, “ले जाओ इन्हें। पैसा जमा करा लो. फिर मझे सचना दो”

कम्पौंडर उन्हें लेकर बाहर चला गया था। वे पैसा जुटाने के लिए बेचैन हो गए थे। सबके चेहरे पर हवाइयां उड़ने लगी थीं। वे अपने परिचितों की तलाश में निकल गए थे।

उस आदमी को गोली कैसे लगी, कोई नहीं जानता। डाक्टर साहब ने भी इस सम्बन्ध में कोई तफ्तीस नहीं की। भेशभूषा और रहन सहन से तो साफ दिख रहा था कि वे किसी गाँव के किसान या मजदूर हैं, किसी लड़ाई झगड़े में उस जवान आदमी को कई गोलियां लग गयीं हैं। शायद डाक्टर साहब ने सोचा था. जान बच

जाने के बाद ये पैसे नहीं देंगे। किसान तो ऐसे ही मर रहे हैं जहर खाकर। मजदूर मारे मारे फिरते हैं काम के लिए, कब इसे काम मिलेगा और कब कमाएगा! कमाएगा भी तो खायेगा कि मुझे मेरा पैसा देने आयेगा! लेकिन जब वे पैसा लेकर आये, रोगी अचेतावस्था में था, डाक्टर साहब ने पैसा जमा करा कर अपना काम शुरू कर दिया था। जब उसे होश आये, उसकी नजर डाक्टर साहब पर पड़ी थी और एक गहरी चिंता उसे बरी तरह मथने लगी थी।

क्या सचमुच डाक्टर भगवान होते हैं! नहीं, यह तो भगवान नहीं है! बहुत बड़ा लुटेरा है! इसके लिए पैसा ही सबकुछ है! रोगी की सेवा इसके लिए कोई माने नहीं रखता। जैसे नेताओं के लिए देश की सेवा का कोई मतलब नहीं रह गया है, जनता का उपकार कोई अर्थ नहीं रखता, कुर्सी और सत्ता के लिए वे कुछ भी कर सकते हैं, राजनीति उनका धंधा बन गया है, इस धंधे में वे झूठ, फरेब छल, हत्या सबकुछ जायज समझाने लगे हैं, उसी तरह यह आदमी भी मोह, माया, दया, धरम, परोपकार, को कुछ नहीं समझता! पैसा, पैसा, पैसा! पैसा ही इसके लिए सबकुछ है! रोगियों की देखभाल इसका धंधा बन गया, इससे बेहतर तो कोठे वालियां हैं। अपने धंधे में ईमानदार तो हैं! घंटों वह इसी सोच में डूबा रहता!

कुछ दिनों बाद वह स्वस्थ होकर अपने घर चला गया था। डाक्टर साहब भी इस घटना को भूल चुके थे। कितनी बातें कोई याद रख सकता है भला! अस्पताल में जो भी आता है खुद को गरीब ही कहता है। डाक्टर साहब ने सोचा था, इतने पैसे लगा कर पढ़ाई की. अस्पताल बनवाया. क्या दान-पन करने के लिए!

उस दिन ऐसे ही कह रहा था सुल्तानवा उसका बेटा लव जेहाद के नाम पर पकड़ा गया था, बीच बाजार में कुछ लोगों ने उसे घेरकर पीटना शुरू कर दिया था। मारते मारते लह लहान कर दिया था। वह

भी आ गया मेरे पास कहने लगा, “आपका एहसान आजीवन नहीं भूलूँगा। गरीब आदमी हूँ, पैसे नहीं हैं मेरे पास। मेरी मदद कर दीजिए। जो भी खर्च होगा, कमा कर जमा कर दूँगा।”

डाक्टर साहब को गुस्सा आ गया। गरीब आदमी हो तो तुम्हारे बेटे ने प्रेम रोग क्यों पाला है रे! तुम्हें क्या अधिकार है किसी गैर मजहब की लड़की से प्यार करने का? तुम्हारा देवता पश्चिम में रहता है, उसका पूरब में! तुम उल्टे राह चलते हो, वह सीधे राह चलता है! क्यों उसका धर्म नासते हो? सुलतनवा की घिघी बंध गयी थी। वह फूट-फूट कर रोने लगा था। बहुत खून बह गया है डाक्टर साहेब! जान बचा लीजिये इसकी! अब इसे यहाँ नहीं रहने दूँगा! बाहर खदेड़ दूँगा!

मझे दया आ गयी। शुरूआती उपचार करके भेज दिया गया था दूसरे ही दिन मर भी गया था अभाग!

हुं! बड़ों का मुकाबला करने चलते हैं लोग! अपनी औकात नहीं देखते! समर्थ लोग कछ भी करेंगे। देखा देखी तुम भी करोगे!

प्यार एक सुन्दर सुगन्धित फूल है, जो बगैर किसी भेद भाव के भी खिल जाता है। यही वह जिंदगी का सार है, जो झोपड़ी से महल तक सम्पूर्ण दुनिया को संचालित करता है। यह तथ्य बहत बाद में डाक्टर साहब के जेहन में आया था।

सुलतनवा का रोता घिघियाता चेहरा उतर आया डाक्टर साहब की आँखों में ठीक वैसे ही जैसे उस गोली लगे बेहोश आदमी का मुरझाया हुआ चेहरा! साथ ही उस रात उसने जो कहा था वह बात भी। वही बात उसके मन में पल प्रतिपल कौंधता रहता है। क्या कह दिया उसने उन्हें! और क्यों कह दिया! कैसे मेरी तुलना कर दिया एक कोठेवाली से! मेरी मुकाबला करने की क्षमता है क्या उसमें! मेरा शीशे का शीश महल...ऊँ ससुर मडई टाट का रहने वाला! मैं चौबीसों घंटे ए. सी. में निवास करने वाला, वह दिन रात चिलचिलाती धूप में जलने वाला! बोल कैसे दिया ऐसी बात! मैं कोठे

वाली हूँ! ठग हूँ। लुटेरा हूँ। धूर्त टुच्चा नेता हूँ! हत्यारा हूँ! मेरा नाम, यश, रूतबा, औकात जिला जवार सूबा में चारो ओर फैला हुआ है और वह संस्कार हीन टुच्चा आदमी! क्यों कहा ऐसी बात! कोठे वाली और लुच्चे लफंगे नेताओं से क्यों तलना की मेरी! क्या मेरी सेवा धंधा है?

सदमा का मुख्य कारण तो यही है, डाक्टर साहब के लिए। धंधा सेवा, धंधा सेवा, धंधा सेवा! फेंकते रहते हैं रात दिन। कुछ भी अच्छा नहीं लगता है। उन्हें अकेले-अकेले बैठते हैं। बैठे रहते हैं। सोचते रहते हैं। क्या हुआ जो इतना पैसा कमाया! ऐसा महल बनाया! एक अदना आदमी भी बोल गया ऐसी छोट बात! जैसे धोबिया बोला था राजा रामचंद्र जी के लिए! अब तो जीने का कोई मतलब ही नहीं!

उस रोज अँधेरी रात में अपनी गाड़ी लेकर जा रहे थे डाक्टर साहेब। सुनसान इलाके में जा रही थी उनकी गाड़ी। चारों तरफ झाड़ियों का जंगल था। एकाएक बीच सड़क पर रास्ता जाम दिखा। गाड़ी रुक गई। गाड़ी रुकते ही कुछ अनजान लोगों ने गाड़ी को चारो ओर से घेर लिया। उनलोगों ने गाड़ी का गेट खुलवाया। डाक्टर साहब ने गाड़ी का गेट खोला। गेट खुलते ही वे उन्हें लुटना शुरू कर दिए। डाक्टर साहब पहले तो कुनमुनाए फिर जान पर आफत देख अपना सबकुछ उन्हें सौंप दिया। दूसरा चारा ही क्या था! उनलोगों ने पत्नी के सारे आभूषण भी ले लिए। डाक्टर साहब अब बिलकुल असहाय थे। सोचने लगे, जान बचेगी तो फिर लाखों कमा लेंगे बुद्धिमानी इसी में है कि जो कहते हैं वह किया जाय और जितनी जल्द हो सके जान बचा कर यहाँ से भागा। जाय बहुत पैसा कमाया हूँ, इतना तो रोज आता जाता है। दो चार दिनों के अन्दर ही फिर इतना कम लूँगा।

किन्तु अंत में जाते-जाते उस आदमी ने जब कहा, “डाक्टर साहब, आपने मझे पहचाना?”

नहीं तो! डाक्टर भौंचक थे।



ठीक से देखिए मुझे, याद कीजिये!

डाक्टर साहब उसे घूरते हुए चपु थे। बार-बार अपनी स्मृति पर जोर देकर उसे पहचानने की कोशिश कर रहे थे लेकिन हाथ कुछ लग नहीं रहा था।

मुझे जब गोली लगी थी, आप ने मुझे बचाया था। कई-कई गोलियों को मेरे शरीर से निकाला था। अब कछ याद आया? उसने उन्हें याद दिलाते हुए पूछा।

अरे हाँ! डाक्टर साहब की स्मृति एकाएक जगी। मुरझाया हुआ मन एकाएक हरा होने को हुआ, लगता है सारा धन अब लौट आयेगा! मैंने इसकी जान बचाई थी, यह मुझे पहचानता है। इतना कृतज्ञ तो होगा ही। वे मन ही मन बहुत सारी बातें क्षण भर में ही सोच गए। और उसकी ओर आशा भरी निगाहों से देखने लगे।

उन्हें अपनी ओर इस तरह देखते हुए देख उस आदमी ने तुरंत कहा, “डाक्टर साहब, सब का अपना अपना धंधा होता है। सब अपने-अपने धंधे में लगे हैं। आप अपने धंधे में लगे हैं, मैं अपने धंधे में लगा हूँ। नेता सब अपने धंधे में लगे हैं। कोठेवाली अपने धंधे में लगी हैं। सब अपने धंधे में ईमानदारी से लगे हैं। मोह, माया, अच्छा बुरा, नीति अनीति सब छोड़कर पैसा कमाने में सब के सब दौड़ रहे हैं, मैं भी अपने धंधे की ईमानदारी को छोड़ नहीं सकता। मैं भी विवश हूँ, जैसे आप उस दिन विवश थे। मेरे साथ कोई मुरौवत नहीं किया, मैं भी आप के साथ कोई मुरौवत नहीं कर सकता। आपकी जान छोड़ देता हूँ, बस यह काफी है क्योंकि आप ने मुझे पहचान लिया है। मेरे खिलाफ कछ भी कर सकते हैं!

फिर भी जैसा आपका धंधा वैसा मेरा धंधा! अंतर इतना है कि आपका धंधा सिर्फ अपने लिए है और मेरा पूरे समाज और देश के लिए। इतना कह कर वह चारों ओर फैली झाड़ियों में जाने कहाँ गुम हो गया। उसके साथी भी उसके पीछे पीछे चले गए।

संपर्क : 9931837620

डाक्टर साहब के होश तब से उड़े हुए हैं। घर लौटने के बाद से ही वे बेचैन हैं। किसी काम में उनका मन नहीं लगता। हर पल उसकी बात मन को मथती रहती है, क्या मैं इतना नीचे गिर गया हूँ कि पैसे के आगे आदमियत को बिलकुल भूल गया हूँ मानवता को तिलांजलि दे चुका हूँ? फिर मेरे और उसमें अंतर ही क्या रह गया है! क्या मैं इतना नीच हूँ? उसने मेरी तुलना उस कोठेवाली से कर दिया, जो मजबूरी में अपना तन बेचने को बाध्य होती है! क्या मैं भी...मगर मैंने तो सेवा भाव से इस राह को चुना था! मैं कहाँ से कहाँ आ गया! सारी धन दौलत. सारा महल अंटारी. कमाई, बेकार हो गयी!

डाक्टर साहब ने अपने जीवन में जिन-जिन रोगियों को पैसे के कारण लौटा दिए हैं, या मौत के घाट उतार दिए हैं, लगता है, वे सभी उनसे हिसाब लेने के लिए उनके सर पर सवार हो गए हैं। उनकी पत्नी बच्चे उनकी यह हालत देख परेसान हैं। अब तक डाक्टर साहब दूसरे रोगियों का इलाज करते थे, अब वे लोग उन्हीं के इलाज के लिए किसी अच्छे डाक्टर की खोज में लगे हैं, जो उनका इलाज पूरे मन दिल से, आदमी के सभी मानवीय गुणों से भरे हृदय से कर सके और उन्हें एक सच्चा इंसान बना सके।

बहुत दिन बीत गए। डाक्टर साहब का रोग दिन दिन बढ़ता ही जा रहा है। किन्तु अब तक वैसे डाक्टर का पता नहीं लगा, जो उनका सही इलाज कर सके। क्या आप की जानकारी में वैसा कोई डाक्टर है?

अगर इस तरह का कोई डाक्टर आपको दिखाई दे तो उसका नाम पता और नंबर भेजने की कृपा अवश्य करेंगे। मेरी हाथ जोड़ कर गुजारिश है आपसे। ताकि डाक्टर साहब के साथ-साथ देश में बढ़ते तमाम रोगों के रोगियों का सही इलाज हो सके। आप सब तो जानते ही हैं की आज पूरा देश कितनी-कितनी बीमारियों से किस तरह तबाह है।

## मनीषा शुक्ला लापता है

सषमा कनप्रिया

‘हम मनीषा शुक्ला के बारे में कुछ नहीं छाप सकते...नहीं छापना है...इज दैट क्लीयर... समझीं आप...?’ मेज पर बेतरतीब पड़े कागजों के बीच अपना चश्मा लगाया...और भवें तरेर कर बोले थे...

मगर...‘क्यों सर...ये एक अच्छी स्टोरी है...लोग जानना चाहते हैं...आखिर इतने साल हो गये...कोई...कोई बात नहीं कर रहा...’ सुकन्या हार मानने वाली नहीं थी...

‘मैं जो कह रहा हूँ...सुनिए...वैसे आपकी इस स्टोरी में बहुत से ऐसे नाम हैं जिनका कनेक्शन रूलिंग पार्टी से है और अपोजिशन से भी...हमारे चेयरमैन का नाम एम पी के तौर पर चल रहा है...ऐसे में आपकी इस बकवास के लिए इतना बड़ा रिस्क हम नहीं ले सकते।...यहाँ मामला अपोजिशन का है मगर सब देखना है। प्लीज...अपनी जगह पर जाकर बैठिए...।’

सुकन्या चुप तो हो गयी...पर दिमाग में जो घमासान चल रहा था...वह आँखों से बह जाने को आतुर था...जबरन आँसू पोछे...और खामोश होकर बैठ गयी...यह आम बात है...कई बार उसकी स्टोरी रोकी जा चुकी थी...उसे एक बाईलाइन मिल जाती तो उसकी सहयोगी को चार बाईलाइन मिलती...कई बार ऐसा लगता कि उसकी स्टोरी में नाम छापने पश्चाताप जैसी हैं ये खबरें।

लड़ नहीं सकती थी...शिकायतें थीं...वह हमेशा नेगेटिव लिखती है...सुकन्या दी...‘अरे... हमारे मिनिस्टर थियेटर करते हैं...उनका एक इन्टरव्यू लाइए न...फिर देखिए...हमारे पेपर को भी फायदा होगा और आपको...’ सुकन्या ने जलती हुई आँखों से बस घरकर शर्मीली को देखा था. ..‘गलत जगह पर आ गयी हो...यहाँ से चलती बनो।’

इलेक्शन हैं...सबके साथ बनाकर रखना है...कोई नहीं जानता...कौन सत्ता में आ रहा है। खबरों का कीड़ा कुछ ऐसा होता है कि किसी खबरची को काट ले तो वह फिर कहीं चैन नहीं पाता...‘मैं लिखना चाहती हूँ...एक अधिकारी पिछले 7 साल से लापता है...उसका कोई रिकॉर्ड नहीं...कोई बात करने को भी तैयार नहीं है...क्या हुआ होगा उसके साथ...मगर कोई लड़े भी तो क्यों...आखिर थी कौन वह...एक विश्वविद्यालय की अदना सी अधिकारी।’

‘ई रूम टा उनि निजे शाजिए छिलेन...खूब भद्र मोहिला...आमि जेखाने बोशेछि...उनि बोशतेन...मने पोड़े न जे कारो शोंगे...खाराप किछु कोरलेन...हटात कोथाए गेलेन...’ मि. चटर्जी की आँखें गीली हो गयी थीं...‘दीदी...दध चा निबेन...आपनि?’

‘न...ठीक आछे...आप बताइए...फिर क्या हुआ?’  
‘कि आर बोलबो...हमारा हेल्प चाहिए तो बताइएगा...मनीषा दी हमारे लिए बहुत किया...अगर हम कुछ कर सका तो..’ मि. चटर्जी अब टटी -फटी हिन्दी बोलने लगे थे।

अरे...दीदी...मनीषा को ये चाकरी पॉलिटिकल पावर से मिला था...मगर एक बात है...खूब अच्छा मानुष था...उत्पल बाबू...धीरे से बोले...हमारा नाम मत आने दीजिएगा प्लीज...चाकरी चोला जाएगा और इससे ज्यादा आपको कोई कुछ बता भी नहीं सकेगा।  
..फोन की लाइन कट गयी थी...।

सुकन्या जी...आप इस केस में इतना दिमाग क्यों लगा रही हैं...जबकि आपको मना किया गया है...आप जानती हैं कि हमारे पास तथ्य हैं पर सबूत कहाँ से लाएंगी...सब जानते हैं कि मनीषा शुक्ला के साथ क्या हुआ है मगर कोई कुछ नहीं बोलेगा...हम कुछ नहीं कर सकते...हाथ झनझनाते और पैर पटकते...बॉस चले गये...।

खबर लिखी थी...मनीषा विश्वविद्यालय की अधिकारी थी और वह सीधे प्रोफेसर बन गयी मगर विश्वविद्यालय के पास इस घटना की पुष्टि के लिए कोई दस्तावेज नहीं है।...सत्ता में नहीं रहने पर भी पार्टियाँ अपना असर छोड़ जाती हैं।

अब तक जिन्दा भी होगी क्या...मार डाला होगा उसको...बड़ा लीडर...लोग...बड़ा बात करता है...वो

मिनिस्टर न उसको पक्का फँसाया...नेई तो कोई बिना डिग्री के प्रोफेसर कैसे बन जाएगा...बोलो तो दीदी... और आगे बढ़ना चाहती होगी तो रास्ता से हटा दिया.  
..यूनिवर्सिटी के बाहर चाय बेचने वाले पारितोष दादा भी बोल पड़े...आप इतना मेहनत करता है दीदी... लेकिन कोई लाभ नहीं...मत करिए...कोई नहीं छापेगा.  
..आज सुकन्या जैसे हार गयी थी...ठीक बोलते हैं दादा...अब दूसरा कुछ देखती हूँ मगर...।

सब समझते हैं कि पत्रकार आजाद होते हैं...कलम से बड़ी कोई ताकत नहीं होती...मगर कितना बड़ा मिथक है...वह सुकन्या ही जानती है...चाय ठंडी हो चली थी...क्या वही बँधी...है...नहीं तो...सब बँधे हैं..  
..सम्पादक भी...ऊपर वाली कुर्सी भी...ताकत का डर.  
..आतंक का डर...सत्ता का डर..हर जगह बस डर है।

दफ्तर में बगैर किसी से कुछ बोले...चुपचाप बैठ गयी...नोट्स अपने पास रखकर...। दीदी...मिठाई खाइए.  
..मेरा एक्रिडिशन कार्ड आ गया...शर्मिली ने जबरन मिठाई ठूस दी...पिछले 11 साल से सुकन्या ऐसी मिठाई नहीं खिला सकी...मगर यह ग्यारहवीं बार था जब कोई प्रमोशन और एक्रिडिशन के नाम पर उसका मुँह मीठा कर रहा था।

विज्ञप्ति बनाइए...कुछ भी काटना नहीं है...विज्ञापन का मैटर है...कल चले जाइएगा। सुकन्या ने बॉस के हाथ से कागज ले लिया...स्क्रीन पर हेडिंग डिलीट कर रही थी...मनीषा शक्ता लापता है...।

संपर्क : 9163986473

## मार्टिन जॉन

## गजरती बहार के फल

उन्होंने तो सिर्फ पचास रुपये मांगे थे, वह भी वृद्धा पेंशन के पैसे से। बरसों से घर में काम कर रही काम वाली बाई की बेटी के जन्मदिन पर चुपके से एक गिफ्ट देना चाहती थी। उसकी इस छोटी सी मांग पर तूफान खड़ा हो गया। इस बात पर इतना बड़ा प्रलय मच जाएगा, उसने ऐसा सोचा नहीं था। बेटे ने इतनी जली-कटी सुनाई कि मन-मिजाज तिवक्त हो गया। बहू के सामने भीगी बिल्ली बना रहता है। माँ को भेदने के लिए जहर बुझे वाण हमेशा तैयार रखता है। और बहू...उसे तो बस कोई बहाना मिलना चाहिए कांटें चुभाने का। उस दिन उसने इतने कांटें चुभोए कि उनका हृदय छलनी हो गया। अपमान और घोर प्रताड़ना का कड़ुवा घूंट पीकर भूखे पेट सारी रात बिस्तर पर करवटें बदलतीं रहीं। जिन्दगी की शाम इतना स्याह और भयावह होगा, वह भी अपने घर में, अपने लोगों के बीच, इसका उन्हें कतई अंदेशा नहीं था। क्या अंतिम सांस लेने तक ऐसी बदतर जिन्दगी जीना पड़ेगा?

सुबह हुई। उन्होंने एक कड़ा फैसला लिया और मौका देखकर दबे पांव घर से निकल पड़ी। मांका लापता हो जाना बेटे के लिए कोई खास परेशानी का सबब नहीं था। हां, वृद्धा पेंशन की एक मुश्त रकम हाथ से निकल जाने का अफसोस उसे अवश्य साल रहा था। लोक-लाज के मारे इधर-उधर खोजबीन की, लेकिन विशेष तत्परता नहीं दिखाई।

एकलम्बा समय बीत गया मां को गायब हुए। इस दरम्यान घर के लोग भूल गए कि यहां एक वृद्ध मां भी रहती थी। उनकी वापसी का इंतजार किसी को नहीं था। उनके कमरे को स्टोर रूम बना दिया गया था।

उस दिन पत्नी घर पर नहीं थी। शाम उतरने से पहले चाय बनाने के लिए वह दूध गरम कर रहा था। उसी समय कॉलबेल बजा। दरवाजा खोला तो देखा, सामने पोस्टमैन खड़ा था। वह एक रजिस्टर्ड लिफाफा सौंप गया। लिफाफा शहर के संत विन्सेंट आश्रम की सुपरियर की ओर से भेजा गया था। फौरन उसने लिफाफा खोला। टेढ़े-मेढ़े अक्षरों में लिखा पत्र पढ़ना शुरू किया, 'बेटा, जिंदा हूं, लेकिन मौत के करीब हूं...पत्र के साथ हस्ताक्षर वाली रकम निकासी स्लिप भेज रही हूं...लगभग ढाई साल की पेंशन की रकम है...लाइव सर्टिफिकेट दे चुकी हूं। पत्र मिलते ही फौरन बैंक चले जाना...छोटू की ऊंची पढ़ाई में लगा देना।...सदा खुश रहो तुम्हारी मां।'।

मां ने बचपन में उसे प्यार से अनगिनत चपतें लगाई थी। लेकिन इस उम्र में मां की इस

जोरदार चपत ने धिक्कार के साथ उसे यह एहसास दिला दिया कि गजरती हर्ड बहार में भी फल खिल सकते हैं।

## नजरिया

“क्यों इतना आंसू बहा रहे हो यार?...भूल जा उसे। ...ये इमोशन तेरी लाइफ का मोशन खराब कर देगा। तेरे आगे बहुत लम्बी जिन्दगी पड़ी है।”

“कैसे भूलूं...इट इज इम्पॉसिबल।” ताजा जख्म के दर्द से स्वर भीगा हुआ था। “उससे बेइतहा प्यार करता हूं।”

“और वह?...अगर तुमसे सच्चा प्यार करती तो समित से कोर्ट मैरिज क्यों कर लेती।...शी इज फ्रॉड।”

वह सर झुकाए खामोश रहा। सोनम की बेवफाई ने उसे तोड़कर रख दिया था।

“देख रानू, ये इक्कसवीं सदी की लिबरल लड़कियां हैं, टेक्नो और डिजिटल जमाने में जीने वाली।...इन्हें प्यार-मुहब्बत, जज्बात की कोई कद्र नहीं...टोटली अनइमोशनल।”

“लेकिन वो वैसी नहीं है।”

“अरे यार, सब वैसी ही होती हैं।...इन्हें तो बस ‘यज एंड थ्रो’ कलम की तरह...”

“रिंकी और पिंकी भी नए जमाने की लड़कियां हैं।”

“शटअप रानू...वे मेरी बहनें हैं। ...ओन सिस्टर्स। ..गो ट हेल्. नॉनसेंस।”

## मखौटेवाले

राष्ट्रीय स्तर के एक दैनिक समाचार पत्र के नगर संस्करण के साप्ताहिक कॉलम ‘नगर की गतिविधियां’

के अंतर्गत दो खबरें प्रमुखता से अगल बगल इस प्रकार छापी गई थीं।

### पहली खबर

‘कोलईंडिया लिमिटेड के चीफ इंजीनियर सहहिंदी के शीर्षस्थकवि विप्लव कुमार का सद्यप्रकाशित कविता संग्रह ‘भूख के आस-पास’ का लोकार्पण जनवादी लेखक संघ के स्थानीय शाखा के तत्वावधान में संस्कृति मंत्रालय के राज्य मंत्री के हाथों संपन्न हुआ। नगर के सबसे महंगे और लगजरी होटल के सजे-धजे एयर-कंडीशंड कॉन्फ्रेंस हॉल में संपन्न इस भव्य समारोह में वक्ताओं के रूप में देश के नामचीन साहित्यकारों के साथ नगर के तमाम लेखक, कवि, साहित्यप्रेमी और सामाजिक कार्यकर्ता उपस्थित थे। समारोह की समाप्ति के बाद लगभग दो सौ लोगों ने उस तीन सितारा होटल द्वारा परोसे गए सस्वाद भोजन का आनंद लिया।’

### दसरी खबर

‘नगर के जाने-माने जनकवि श्री विद्रोही जी एक लम्बे समय से बीमारी से जूझते हुए आज प्रातः अपनी आंखें मूंद लीं। उन्हें ‘ब्रेन ट्यूमर’ हो गया था। जीवन के अंतिम समय में वे तंगहाली और मुफलिसी के कष्टदायक दौर से गुजर रहे थे। यही वजह थी कि ब्रेन ट्यूमर के ऑपरेशन का खर्च उठाने में बिल्कुल असमर्थ थे। नगर के साहित्यकारों की उपेक्षा से वे बेहद आहत थे। मोहल्ले वालों ने चंदा इकठ्ठा कर उनका अंतिम संस्कार किया।’

## रोता बचपन

विशाल सरकारी बंगले के ड्राइंगरूम में मैडम के साथ ‘बचपन’ संस्था की कुछ खास मेम्बरान बैठी हुई थीं। उन्हें आज लेबर कॉलोनी के बच्चों से जड़े एक

खास मुद्दे पर विचार-विमर्श करना था। मौजूद मेम्बरान में से जब भी कोई बोलना शुरू करती, बंगले में काम कर रही काम वाली बाई की दो वर्षीया बच्ची के रोने की आवाज उनके कानों में पड़ जाती। बार-बार की रिरियाती आवाज से उनकी बातचीत में खलल पड़ जाता। असहजता की स्थिति तो पैदा हो ही रही थी, ढंग से आपसी संवाद भी स्थापित नहीं हो पा रहा था। परेशान होकर मैडम ड्राइंगरूम से बाहर निकली और काम वाली बाई को हिदायत दी, “देख लक्ष्मी, या तो अपनी बच्ची को चुप करा, नहीं तो इसे लेकर अभी बाहर बैठ। हमें परेशान मत कर।”

लक्ष्मी भी बच्ची के लगातार रोये जाने से तंग आ गई थी। उसने बच्ची को गोद में उठाकर गुस्से में उसकी पीठ पर दो धबक्का देते हुए बंगले से बाहर हो गई।

बच्ची मार खाकर पूर्वापेक्षा जोर जोर से रोने लगी। रोने की आवाज इतनी तेज हो गई कि ड्राइंगरूम में बैठी बच्चों की हिमायती मेम्बरान को चर्चा पर स्वयं को केन्द्रित करना मुश्किल हो गया। विचार-विमर्श बाधित होता देख मैडम आग-बबूला होकर फिर एक बार दनदनाते हुए ड्राइंगरूम से बाहर निकली और बाहर बैठी लक्ष्मी से मुखातिब हुई, “ध्यान से सुन लक्ष्मी, कल से तू इस बच्ची को अपने साथ मत लाना!.. क्या समझी?” लहजे में रुखाई और हिंकारत थी।

“लेकिन मैडम, इसे किसके पास रखकर आऊँ। आप तो जानती ही हैं कि मेरे घर में और कोई नहीं है।”

“वो सब मैं नहीं जानती। मैंने जो कह दिया. सो कह दिया बस।”

“ये तो मुश्किल है मैडम...दूध पीती बच्ची को..।

“तो फिर सन ले कान खोलकर...कल से तेरी छड़ी!”

इतना कहकर वह गस्से में पैर पटकती झटके से

मडकर वापस हो गई।

बच्ची के रोने के अपराध में ‘सजा’ सुनकर बचपन बचाने वाली उस औरत को वह बेबस आँखों से देखती रह गई।

## वापसी का डर

रतिया भाग गई कलुआ के साथ।

चिंगारी उठी। शोल्ला भकभकाया और आग बनकर सारी बस्ती में फैल गई।

दिन बीता। शाम बीती। रात आई।

अकलू अभी तक वैसे ही गुमसुम बैठा था। बच्चे जमीन पर भूखे पेट ही सो गए थे। धन्नो ने उठकर दीया जलाया। झोपड़ी में हल्की सी रोशनी पसर गई। धन्नो खाट के पावे का सहारा लेकर जमीन पर बैठ गई।

उसने अकलू की ओर देखा, ‘कितना दुःख पहुंचा है इसे जवान बेटी के भागने से!...कल किस मुंह से हम बस्ती में निकलेंगे!...थू थू नहीं करेंगे सब?...हे भगवान ये क्या हो गया।...कैसे तसल्ली दूं इसे!’ वह उठी और अकलू के पास चारपाई पर बैठ गई।

तभी हवा का एक तेज झोंका आया। टिमटिमाता दीया बुझ गया। अकलू ने एक लंबी सांस ली और चारपाई पर लेट गया। धन्नो कुछ देर बैठी रही और फिर अकलू के बगल में लेट गई। उसके सीने पर हाथ फेरते हुए बोली, क्या सोच रहे हो?

पहली बार अकलू का मंह खला. “मैं एक बात से डर रहा हूं धन्नो!”

धन्नो उससे और सट गई। फसफसा कर बोली. “किस बात से डर रहे हो?”

धीरे से अकलू ने कहा, “कहीं रतिया वापस न आ जाए!” धन्नो छिटक कर अलग हो गई।

संपर्क : 9800940477



## बस्स, दो-चार दिन जरूर गाँव रह आइये

जयप्रकाश मानस

27 मई 2014

नदी है तो

नदी केवल धोती है। नदी केवल बोती है। नदी केवल खोती है। नदी केवल रोती है। नदी केवल सोती नहीं।

नदी और नींद का मेल कहाँ। नींद एक नदी है पर नदी कोई नींद नहीं। नदी सदा जागती है। जगना उसका धर्म है। जगाना उसका कर्म। नदी की नीयत में दो ही बातें हैं-कर्म और धर्म। जो उसका धर्म है वही उसका धर्म। नदी का यही सच्चा मर्म।

नदी एक ताल है। छंद गति लय भी। सच कहो तो नदी जैसे जीवन का संगीत। जीवन कभी भी थमता कहाँ! बिन गाये नदी का मन भी रमता कहाँ! थमना, केवल रमना ही नदी का जीवन है। बहते ही रहना, कुछ कहते रहना ही जीवन की नदी है।

दो तटों को मिलाना। फिर स्वयं खिलखिलाना। पास-पड़ोस को बुलाना। मानों में बुदबुदाना। फिर मेले सजाना। नदी की ही रीति। नदी की ही नीति। नदी कभी अपना रीत नहीं छोड़ती। नदी भूले से भी प्रीत नहीं तोड़ती। जोड़ती-जोड़ती सिर्फ-सिर्फ जोड़ती।

नदी है तो जागती रहती हैं मछलियाँ। नदी है तो मल्लाह की रोती नहीं पतलियाँ। नदी है तो चमकती रहती है डोंगियाँ।

29 मई 2014

सबह का संकेत

एक उदास रात का शोर अर्थात् मुस्कान का ही भोर। उदासी आखिरी पहर का आचरण है। उदासी में भरमाना, उदासी में अलसाना सुबह का संकेत है।

सुबह है अनिवार्य नींद के बाद का विस्तार। वही है स्वप्न का आकार। वह एक घनी विश्रान्ति का उपरांत है। धरा का सर्वश्रेष्ठ प्रांत है।

अथाह शांति सुबह का पहला लक्षण है। अविरल शांति क्रांति का पहला चरण है। शांति के बगैर हर क्रांति एक अनाहुत मरण है। मरण है इसलिए अनर्थ। सबह भाषा में सबसे बड़ा शब्द है और व्याकरण का सबसे घना अर्थ।

परभाती के लिए तैनात खग वृंद उदास होकर रात भर कलपते नहीं। सोते हैं मन भर उदास घोसलों में ही। उदासी कभी कटती नहीं तडफने पर। उदासी कभी मिटती नहीं सबकने पर। नींद

उदासी की काट है। स्वप्न ही उजियारे का बाट है।

उदासी अपरिचित पहाड़ नहीं, मात्र मुरझाया-सा, पथराया-सा बरसाती नाला है। आता है एक वेग से और जाने कहाँ चला जाता है।

नाला कभी नदी नहीं होता। नाला क्षणमात्र है, कभी सदी नहीं होता। नाला कभी उज्ज्वल नहीं होता। नाला नहीं धवल होता। नाला बहत चपल होता है लेकिन वहाँ कमल नहीं होता।

नाला की उपस्थिति जीर्ण-शीर्ण, अवशिष्ट की अनुपस्थिति है। अनुपस्थिति एक जरूरत है। अनुपस्थिति एक हकीकत है। अनुपस्थिति ही नयी निर्मिति है।

नदी में वह सिर्फ विसर्जित होना जानता है। वह नदी का शरणार्थी है। नदी स्त्री है इसलिए वह हर विसर्जन पर एक संभार है। शरण का आशरण। नाला पुरुष है इसलिए पुरुष भी। पुरुष ही पाषाण है। पाषाण ही उदास है। उदास नहीं होना है। पानी हैं हम प्यास नहीं होना है।

### जंगल और घर

जंगल से आगे घर। घर के पीछे जंगल। जंगल के नीचे जंगल। ऊपर भी जंगल-जंगल। जंगल से दूर घर। घर से समीप जंगल। घर से बाहर जंगल। जंगल बाहर घर। भीतर-भीतर घर। जंगल बाहर-बाहर। घर में नहीं जंगल। जंगल में नहीं घर। घर है नहीं जंगल। जंगल भी नहीं घर।

23 सितंबर 2014

एक बात याद आ गई

मेरे गाँव में, मेरे घर के पीछे से देखें तो एक पहाड़ दिखता है। पहाड़ को मैं बचपन से इतना ही माना हूँ कि कुछ देर तक वह सुबह की रोशनी को रोक देता है। बाकी वह कुछ भी नहीं बिगाड़ पाता।

पहाड़ के माथे पर मैं कई बार जाकर देख चुका हूँ वह निर्जीव है। उससे कई बार पछ चका हूँ- दहा कितने

बड़े हो आखिर आप? वह कुछ कहाँ कह पाया है। उसके कानों में सिर्फ मेरा ही प्रश्न गँजता रहा है। कदाचित् आज भी...

पहाड़ों का दिल नहीं होता। पहाड़ों के नाक-कान नहीं होते। पहाड़ों की काया होती है उनकी कोई माया नहीं होती। माया पराजित मानसिकता है। और हम पहाड़ के पड़ोसी भला क्यों हार मान लें। हम घडसवार हैं और हमारे घोड़े ये वे सब पहाड़।

आज तक जो भी पहाड़ जैसे मेरे सामने अडते दिखे। मुझे किंचित भी भय न हुआ।

पहाड़ को याद करता हूँ तो सबसे पहले याद आता है : बचपन का ऐसा ही कोई दिन...

मैं पहाड़ की सबसे ऊँची चोटी पर किसी अपरिभाषित चट्टान पर पैर हिलाते बैठा हूँ और मेरी गायें आसपास हरी-हरी घास चर रही हैं। मेरे बचपन के साथियों में कोई बाँसुरी बजा रहा है...कोई वनफूल देख मगन है...कोई करील काट रहा है...पहाड़ के ऊपर रहता है मन आज भी और मन के नीचे समचा आकाश!

हाँ, आप चाहे जितने भी बड़े पहाड़ हो, रहो। हमारे पैरों के बारे में कुछ भी नहीं पता आपको, जिन्हें पहाड़ों की ऊँचाई नापने का हूनर है। पीढ़ी-दर-पीढ़ी।

एक बात याद आ गई : बचपन का वही प्रश्न, जिसके घेरे में लेकर अपने वजूद पर सही निर्णय करता आया हूँ मैं-‘आप किस विधा के पहाड़ हो भाई! कितनी है आपकी जड़ों की गहराई! आखिर है कितनी आपके मस्तक की निर्जनी-ऊँचाई!’

बताऊँ मैं या इस तरह ऐंठना त्यागोगे!!

26 नवंबर, 2014

बबल का पेड़ और बया के घोंसले

हमारे गाँव में बबूल के पेड़ों पर बया पक्षियों का डेरा हमें खूब लुभाता था। मैं भी किशोर होते तक शाम-शाम को दोस्तों के साथ संध्या-भ्रमण में घोंसलों

की ओर बरबस खींचा चला आता। बया को मैं दर्जी जैसा ही मानता हूँ। छोटी-सी बुनकर चिड़िया। बया अपना घोंसला घास के तिनके, लकड़ी या पत्तियों की पतली-पतली तीलियों से बुन कर बनाती है।

बया से मेरी गहरी दोस्ती का कारण उसका समूह में रहना है और काफी शोरगुल करना भी है। अमूमन काँटेदार या ताड़ के वृक्षों में यह अपना घोंसला बनाना पसन्द करती है। मैं एक बार एक घोंसला को कई माह तक अपने पढ़ने के कमरे में सजा रखा था।

हरिशंकर परसाई जी के जबलपुर वाले घर के बगल में भी बबूल का पेड़ था जिसके काँटे-काँटे पर बया के घोंसले टँगे थे। कहते हैं हिंदी के प्रसिद्ध कवि अकबर इलाहाबादी के लिए भी बया सबसे प्रिय परिंदा था। परिंदे तो बहुत थे उसकी दुनिया में, लेकिन सोचो तो सही बया ही क्यों अधिक आत्मीय लगता रहा!

एक बार परसाई जी से जब डा. क्रांतिकुमार जैन जी ने पूछा तो उनका कहना था-‘हमारा समाज बबूल का पेड़ है जिसमें विषमता के काँटे ही काँटे हैं, व्यंग्यकार की रचनाएँ बया के घोंसले के समान हैं जिनके कारण समाज के विषधर दूर रहते हैं। जिन घरों में बया के घोंसले टँगे होते हैं। उनमें साँप नहीं आते।’

### 1 जनवरी, 2015

गोंड उछारे धरती-पाताल. बैगा उछारे रूख राई

आदिवासी भाई भले ही ‘असभ्य’ कहलायें लेकिन एक वही है जो जल, जंगल और जमीन यानी अपनी धरती के साथ पूरी सभ्यता से पेश आता है। क्योंकि उसे यह दृढ़ विश्वास है कि यह धरती केवल उसने ही रची है किसी ईश्वर ने हाड़-तोड़ मेहनत नहीं की है इसके लिए। उस देव को तो उसने ही गढ़ा है। शायद यही भाव प्रकृति के साथ उसके तादात्म्य का बीज-मंत्र भी हो।

सच न मानें तो हमारे और मध्यप्रदेश के उस बैगा जनजाति का एक लोकपद गनगनाकर देखें जो हजारों

साल से वनप्रांतर में अबाध स्वरों आज भी गँज रहा है :

कौन उछारे धरती पाताल रे

कौन उछारे रूख राई रे।

गोंड उछारे देव धरती पाताल रे

बैगा उछारे रूख राई रे।

(किसने धरती और पाताल को निकाला है और किसने पेड़-पौधों व खाने का सामान राई खोज निकाला है? गोंड लोगों ने ही देव, धरती और पाताल को खोज निकाला है और बैगाओं ने पेड़-पौधों और राई निकाला है।)

### 5 जनवरी, 2015

पर हम न भीगे

मेरा सहज मन जब सभ्य भाषा के बीहड़ में कुछ भी नहीं तलाश पाता तो बोलियों के गाँव की ओर चला जाता है। जहाँ एक अजीब-सी जान-पहचान अभी भी शेष है। जिसके हर शब्द जैसे सुवासित चावल के दाने हों। मीठे-मीठे फल हों। अपनी ही बाड़ी के फूल हों। जहाँ सब कछ सरल हो। सब कछ जहाँ अब भी सरस हो...

ऐसे में कोई कवि याद-याद आये तो वह बस ऐसा ही कुछ क्यों कर न कहे :

गाछकुल सरसा

नरसुलों के फल पर सहसा

रंग तो बरसा

हलद सरसों संग

सुनहला काँस भी सरसा

पर हम न भीगे

रंग में गा गंध में (नरेश मेहताध्वोलने दो चीड को)

न अयोध्या वाले राम न मूर्तिवाले राम

दुनिया में केवल एक जगह है जहाँ के लोग अपने परे शरीर पर राम नाम का गदना गदवा कर परी

दनिया को चौंकाते रहे हैं।

महानदी के तटवर्ती ग्रामों में रहनेवाला यह समुदाय न केवल अपने पूरे शरीर में राम राम खुदवाता है बल्कि नित्य उपयोग में आनेवाले कपड़ों में रामनाम अंकित कराता है और केवल राम को भजता है। इन्हें रमरमिहा, रामनमिहा और रामनामी कहा जाता है। ये राम की मूर्ति नहीं, बल्कि निराकार (स्तंभ) रूप में उन्हें पूजते हैं।

भले ही ये रामनामी हैं किन्तु इनकी आस्था न तो अयोध्या के राम में है और न ही मंदिरों की राम की मूर्तियों में। बल्कि, इनका राम तो हर मनुष्य में, पेड़-पौधों में, जीव-जन्तु में और समस्त प्रकृति में समाया है।

छत्तीसगढ़ के जांजगीर-चांपा जिले एक छोटे से गाँव चारपारा में एक दलित युवक परशुराम द्वारा 1890 के आसपास स्थापित रामनामी सम्प्रदाय को जहाँ भक्ति आंदोलन से जोड़ा जाता है, वही दलित आंदोलन से भी इसका गहरा जुड़ाव है। अछूत और जाति प्रथा के खिलाफ इस सम्प्रदाय का उदय हुआ।

ये रामनामी महानदी के आसपास पामगढ़, नवागढ़ अकलतरा, जांजगीर, जैजैपुर, बम्हनी, मालखरौदा, चंद्रपुर, सारंगढ़, रायगढ़, बिलाईगढ़, कसडोल आदि जनपदों के लगभग 300 गाँवों में मिलते हैं। इनकी आबादी लगभग 5 लाख है।

ये रामनामी भजन गाते व नृत्य करते समय किसी भी वाद्य यंत्र का प्रयोग नहीं करते। बल्कि इनके साधन के रूप में कांस के बने घुँघरू होते हैं। 100 से 150 की संख्याओं के घुँघरूओं को गुंथ कर गुच्छा बनाया जाता है तथा इसी की धुन में नाचते व गाते हैं। दूसरा इनके सिर पर मोर पंख की सहायता से पगड़ी बनाई व पहनी जाती है। इनका मुकुट 'नाग' से जाना जाता है। जिस किसी भी व्यक्ति को तकलीफ होती है तो इनको दूर करने के लिए बदना बदा जाता है। समय सीमा नहीं रहती। लेकिन कँवार, कार्तिक एवं पस में यादा भजन

होता है।

पूस पुन्नी को अखिल भारतीय रामनामी बड़े भजन मेला होता है। जो तीन दिन एकादशी से तेरस तक चलता है। इस बड़े भजन को एक बार रायपुर जिला, दूसरी बार रायगढ़ तथा तीसरी बार जांजगीर जिला में होता है। रामनवमी को प्रत्येक वर्ष उड़काकन में स्थायी रूप से तीन दिवसीय भजन होता है। इसी तरह यह क्रम चलता रहता है। पहले इस भजन मेला में लड़के-लड़कियों की शादी-विवाह भी हुआ करता था। लेकिन अब यह परंपरा धीरे-धीरे समाप्त हो रही है।

23 फरवरी, 2015

पछें तो बताऊँ

तनाव और डिप्रेशन है तो बस्स दो-चार दिन जरूर गाँव रह आइये। वहाँ कुछ मिले न मिले ऐसी कोई दवा मुफ्त में अवश्य मिलेगी ही जिससे नयी सदी के ये सारे रोग छू-मंतर!

आप पूछें तो बताऊँ : हँसी, ठट्ठा, मजाक, ठसका, कड़का, ठसकोली, मसखरी, अंघाई, अलबाद, चबोड़, चीड, गडंग, नकल, मिसल, ऊध, छेडखानी, गप्पबाजी

न पाग, न साग, न राग

चलाने को सब चल जाता है पर उस चलने में न रस होता है रंग। किसी के बगैर ऐसी चाल-चलन को सभ्य लोग पसंद करें तो करें, गाँव-घर के लोगों को यह शायद ही रुचे। लोक-दनिया इस पर झट से एक दोहा बोल उठती है :

बिना चिनारे बांधे पाग

बिना नमक के रांधे साग

बिना कंठ के गावै राग

न पाग. न साग. न राग

संपर्क : 9424182664

## कला की फुहार

विनोद साव

हम सुबह तड़के ही दुर्ग-नवतनवा एक्सप्रेस से सतना उतर आए थे। हम तीन सहयात्री थे और तीनों सेवानिवृत्त हो चुके थे। रिटायर आदमी को किफायती होना है इसलिए उतरते ही हम लोगों ने रेल भाड़ा में चालीस प्रतिशत छूट मिल जाने पर भारतीय रेलवे के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त कर दी थी। सतना स्टेशन के प्लेटफार्म नंबर-एक पर गहमागहमी के बीच एक सांड दिखाई दिया था जिसने हम पर कोई हमला नहीं किया। ऐसे अनुशासनप्रिय सांड को स्वतंत्र विचरण की छूट देने के लिए भी हम रेलवे स्टेशन मास्टर के प्रति कृतज्ञ हो उठे थे। दो दिनों बाद रात दो बजे लौटते समय भी वही सांड हमें स्टेशन में बिदा करता हुआ दिखा था।

रेलवे स्टेशन से बस स्टैंड तक की सड़क तो माशेअल्ला थी। खूब दचक दचक और धूल धूसरित। इन सड़कों पर मशहूर कार्टूनिस्ट आर. के. लक्ष्मण ने कुछ कार्टून बनाए थे-ऊपर शीर्षक था 'आर. के. लक्ष्मण का मध्यप्रदेश' इन कार्टूनों पर प्रदेश की सड़कों के बीच में बन आए बड़े बड़े छेद व गड्ढे थे। पंचर बनवाते ट्रक वाले थे और पंचर दुकानों में सड़े गले टायरों पर बैठकर चाय पीता पंचर बनवाने वाला था।

ये सड़कें हमें उस खजुराहो की ओर ले जा रही थीं जिसे यूनेस्को ने विश्व धरोहर में शामिल कर इसके संरक्षण की घोषणा कर दी है और जिसे देखने के लिए ताजमहल के बाद सबसे ज्यादा भीड़ इकट्ठी होती है।

बस यात्रा की इस पीड़ा को खजुराहो की सुंदरता ने हर लिया था। बमीठा उतरकर खजुराहो ले जाते दूसरे ऑटो चालक ने बताया था कि 'सर...आप लोग बरसात में आए हैं तब तो खजुराहो में होटल गाइड सब सस्ता मिलेगा वरना ठंड में विदेशों से आने वाले यात्रियों से खजुराहो अंटा पड़ा रहता है और महंगा भी होता है... पर बरसात में भी खजुराहो की खूबसूरती और हरियाली देखते बनती है सर।' उसने हमें आश्चस्त करते हुए पूरा खजुराहो जमकर घुमाने का बीड़ा उठा लिया था।

हमने आनलाइन बुकिंग करवाई थी यह एक 'जॉस्टल' (वेजमस) था। रिसेप्शनिस्ट ने बताया कि यह चैनल ऑफ हॉस्टल है नौजवानों को रूकना यहां ज्यादा पसंद है। यह भारत और नेपाल के अट्टाइस नगरों में है। जॉस्टल की दीवारों पर बड़ी खूबसूरत पेंटिंग की गई थी। इनमें डबलबतता की भी एक पेंटिंग थी। अरबी यायावर

इब्नबतूता कभी खजुराहो आए थे तब इस नगरी की राहों पर खजूर के पेड़ खड़े थे इसलिए यह खजुराहो हुआ था। इब्नबतूता की तरह हम भी यायावर थे जो सीनियर सिटिजन होने के बाद भी यथ हॉस्टल में जगह पा गए थे।

कहते हैं कि स्थापत्य कला की दृष्टि से ताजमहल के बाद जो शोहरत केन नदी के किनारे चंदेल कालीन नवीं से ग्यारहवीं सदी में निर्मित खजुराहो के मंदिरों को मिली है वह किसी अन्य को नहीं मिली। संसार के कोने कोने से सैलानी खजुराहो को देखने इसलिए नहीं आते कि यहां मंदिरों की दीवारों पर कामक्रीड़ा की मूर्तियां देखने को मिलती हैं बल्कि इसलिए आते हैं कि इन मंदिरों में स्थापत्य और मूर्तिकला का जो बेजोड़ सामंजस्य देखने को मिलता है ऐसा दर्लभ समागम शायद और कहीं न मिले।

मध्यप्रदेश के पर्यटन स्थलों में बड़ी शांति होती है। अन्य राज्यों की तरह यहां न चिल्ल-पों होती है और न ठगे लुटे जाने का खतरा। खजुराहो में यह शांति इतनी है कि इस कस्बेनुमा पर्यटन स्थल को सायकल चलाकर और भी मजे से घूमा जा सकता है। कुछ होटलों ने अपने विज्ञापन में यह दे भी रखा है कि 'यहां सैलानियों के लिए सायकिल उपलब्ध है।'।

हम एक सफेद शिला के सामने आ पहुंचे थे जिस पर लिखा था 'स्वागतम विश्व दाय स्मारक, भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण, पश्चिमी मंदिर समूह, खजुराहो प्रवेश द्वार पर सुरक्षा व्यवस्था दुरुस्त थी। हमें गाइड ने देख लिया था और कहा था कि 'पहले टिकट ले लीजिए।' टिकट चालीस रुपये का था और गाइड का शुल्क आठ सौ रुपये था। उसने सफाई भी दी कि 'ये ऑफ-सीजन है सर... वरना सीजन में तेरह सौ पचास रुपये लगते हैं।'।

एक भव्य परिसर में हम आ गए थे जहां दूर-दूर तक हरियाली बिखरी पड़ी थी और इनके बीच पिरामिडों की तरह बड़ी-बड़ी चट्टानों की सहायता से बने मंदिर

समूह दीख रहे थे। गाइड ने कहा कि 'पांच किलोमीटर के दायरे में बने खजुराहो के ये मंदिर पश्चिमी, पूर्वी व दक्षिणी समूहों में बंटे हैं इनमें से आप पश्चिमी समूह में हैं जिनमें ग्यारह ऐसे मंदिर व मूर्तियां हैं जिन्हें दुनियां भर के कलाप्रेमी देखने आते हैं। इन मंदिरों की तमाम मूर्तियों को आप जितनी बारीकी से देखेंगे कि आप इनमें डूबते चले जाएंगे।'।

... और हम सचमुच डूबने लग गए थे। सावन का महीना और होने वाली फुहार ने हमारे भीतर इन कलारूपों की रूमानी आभा भर दी थी। पाषाण प्रतिमाओं में कलाकार ने हर रंग उक्रे हैं। हजार साल पुराने इन भव्य मंदिरों के परकोटे में कामकला के न केवल चित्रण हैं बल्कि इन निर्जीव पत्थरों पर जीवन का दर्शन अंकित है। इन्हें देखकर यह एहसास होता है कि चंदेल शासकों के समय में यहां का सामाजिक जीवन और सोच किस कदर विकसित रहा होगा जिसका नतीजा है यहां कामकला का आध्यात्मिक उत्कर्ष जिन्हें सामाजिक वर्जनाओं में विरोधाभासी माना जाता है। यह जीवन और कला की 'क्लासिकीय' में ही संभव है। हमने पहला मंदिर लक्ष्मण मंदिर देखा जिसके भीतर मूर्ति विष्णु की है। इसका नाम इसे बनवाने वाले राजा लक्ष्मण बर्मन के नाम पर पड़ा है। इस मंदिर के सामने वराह की विशाल कलात्मक मूर्ति खड़ी है।

मध्यकालीन चंदेल राजाओं ने हजारों शिल्पकारों की सहायता से इन मंदिरों का जो निर्माण शुरू करवाया वह बरसों वंश दर वंश चलता रहा। ये मंदिर युद्ध में चंदेल राजाओं की विजय यात्रा के प्रतीक थे... जब भी कोई युद्ध उन्होंने जीता तब विजय के उल्लास में भरकर उन्होंने ऐसे संदेशवाहक कलामंदिर बनवाए। इतिहास के अनुसार बाइस चंदेल राजाओं ने कुल पच्चासी मंदिर यहां बनवाए, जिनमें से अब केवल पन्द्रह मंदिर ही शेष हैं। बाकी समय की गर्त में नष्ट हो गए।

कभी-कभी कला देखने वाले के साथ मठभेड



करती है। सहमति असहमति का द्वन्द्व खड़ा करती है। विचारमंथन को विवश करती हैं। हमारे आग्रहों से विनिर्मित हमारी धारणा को ध्वस्त करती हुई ये सर्जनाएं कला के नए प्रतिमान रचती हैं। इन मूर्तियों के बारे में एक धारणा यह भी है कि जैन व बौद्ध धर्म के चलते बहुत से लोग यौन संबंधों से सन्यास लेने लगे थे। ऐसे लोगों के काम द्वारा सृष्टि निर्माण कायम करने के निमित्त यह सहज उपाय था। काम कला के साथ इन निर्जीव पथरों पर जीवन दर्शन का अंकन जिसमें मैथुनरत मूर्तियां न सिर्फ कामवासना को भड़काती हैं बल्कि उनके प्रति जिज्ञासा को शांत भी करती हैं।

हमने गर्दन तानकर और सिर उठाकर देखा सामने पहाड़ की तरह खड़े कन्दरिया महादेव मंदिर को। महादेव अर्थात् शिव अपनी पुराकथाओं में बड़ा व्यापक प्रभाव छोड़ते हैं। अनेक विरोधाभासों के बाद भी उनका कोई विरोध नहीं है। मनीषी चित्रकारों-शिल्पकारों को अधिक सम्मोहित करते हैं इसलिए पुराचारित्रों में उनके रंगचित्र व मूर्तियां अधिक हैं। एक तरफ वे जनजातियों के एकमात्र ईष्ट बूढ़ा महादेव हैं और भंगियों, नशेड़ियों, तान्त्रिकों के एकमात्र अभीष्ट औघड़नाथ हैं तो दूसरी ओर वे कुलीन व अभिजात वर्ग की शास्त्रीय विधाओं के 'नटराज' हैं जिन्होंने अपने तांडव से अपने नृत्य कौशल का लोहा मनवाया और गायकों, संगीतकारों व नर्तकों के आराध्य हो गए। शास्त्रीय कलाओं में नटराज की मूर्ति को 'मोनो' की तरह माना जाता है और इस तरह उनके साक्ष्य में संगीतकार आज भी अपनी 'क्लासिकल' प्रस्तुति देते आ रहे हैं। उनके तीसरे नेत्र(दृष्टि) से जनमानस अपने 'सिक्स्थसेंस' को जोड़ता आया है। भारतीय वांगमय के बड़े और आधुनिक बोध से भरे लेखक कालिदास के तो वे महानायक हैं-'कुमारसंभव' में कालिदास ने शिव-पार्वती के अंतरंग क्षणों का ऐसा जीवंत सौंदर्य-चित्रण किया जो संस्कृत साहित्य में अनुपम है। कालिदास के ऐसे चित्रण के प्रभाव को इन मंदिरों में देखा जा सकता

है।

महादेव धुर-वामपंथी माने जाते हैं जबकि आज भगवा धारा में भी 'हर हर महादेव' का नाद कर लोग अपना तेज दिखा रहे हैं। शिव-सौंदर्य और रोमान के उन्मत्त प्रतीक हैं फिर भी काम को ध्वस्त करते हैं और उसके बाद लिंग पूजा भी करवा लेते हैं। अपने दाम्पत्य संबंधों में वे ऐसे एकाकार हैं कि अकेले अर्धनारीश्वर कहे जाते हैं। शंकर जैसे समर्पित पति और सुयोग्य वर पाने के लिए स्त्रियां व कुंवारी लड़कियां तीज का निर्जला व्रत धारण करती हैं। वे सांड, बैल और नाग को संरक्षण देते हैं। बेलपत्र, धतूरे और कनेर के फूलों से अपना पर्यावरण तैयार करते हैं। वे घट घट वासी हैं और तालाबों नदियों के घाट उनके बिना अधूरे और बेजान-से लगते हैं। शिव-परिवार है जिसमें गृहस्वामी के बारह ज्योतिर्लिंग हैं, उनकी अर्धांगिनी के बावन शक्तिपीठ हैं। दो बेटे हैं जिनमें गणेश उत्तर भारत में और कार्तिकेय (मुरुगन) दक्षिण भारत के प्रथम पूज्य देवता हैं। वे कैलाशपति हैं और हमारे सामने कैलाश जैसा पर्वतीय आकार लिए कन्दरिया मंदिर खड़ा है। जिसकी अद्भुत शिल्पकला और वास्तुकला को देखते हुए यूनेस्को ने इसे विश्व धरोहर के रूप में संरक्षित स्मारकों में शामिल कर लिया है।

खजुराहो में शेष बचे मंदिरों में सबसे बेहतर स्थिति में है कन्दरिया महादेव। इसके कन्दरा यानि गुफा जैसे प्रवेशद्वार के कारण इसे कन्दरिया कहा गया है। खजुराहो के प्रारम्भिक मंदिरों में वास्तु तथा मूर्तिशिल्प का वैसा निखरा रूप दिखाई नहीं देता जैसा इन परवर्ती पर्वतीय मंदिरों लक्ष्मण. कन्दरिया और पार्श्वनाथ में दिखाई पड़ता है।

उद्दाम श्रृंगार व कामयुक्त सौंदर्य की पुत्तालिकाएँ कन्दरिया की बाहरी दीवारों पर अंटी पड़ी हैं। निष्काम मूर्तियों की तुलना में सकाम मूर्तियों व रतिचित्रों में मूर्तिकार की कला का मुखरण अधिक हुआ है। कला की उत्कृष्ट बानगी यहां दिखाई देती है। एक तरफ

कथा में सौंदर्य या शृंगार के चित्रण के समय कथाकार पर रूपवादी या कलावादी होने का आरोप लग जाता जबकि कला का आलोचना शास्त्र इस कामकला को वामपंथी चेतना का प्रभाव और प्रमाण मानता है। यह रचनात्मकता वर्जनाओं की धारा के विपरीत जाकर मुखर हुई है और धारा के विपरीत जाकर कला या विचार का उन्नयन और उसकी स्थापना वामपंथ की पहली शर्त रही है।

महाकवि कालिदास सौंदर्य की व्याख्या करते हुए 'कुमारसंभव' में यह कहते हैं कि 'सौंदर्य...पापवृत्तियों या निम्न वासनाओं की पूर्ति के लिए नहीं है। यह कथन कला के प्रति भारतीय मनीषियों की दृष्टि का परिचायक है। साहित्य, वास्तु, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीत और नाट्य कलाओं में परस्पर प्रगाढ़ संबंध होते हैं। जब हम भरतमुनि, वात्स्यायन, कालिदास या बाणभट्ट आदि के ग्रंथों को पढ़ते हैं तब स्पष्ट हो जाता है कि उस युग में विभिन्न ललितकलाओं के बीच प्रमुख अन्योन्याश्रय संबंध विद्यमान था (संदर्भ: भारतीय कला कण्ठदत्त वाजपेयी)।

हमारे उपासनागृह केवल भक्ति के नहीं आसक्ति के भी बड़े केन्द्र रहे हैं। यहां अपने इष्ट या प्रेमी दोनों के प्रति एकांत में अपने श्रद्धा-सुमन चढ़ाने लोग आते रहे हैं। ये प्रेमी-युगलों के मिलन स्थल रहे हैं। यह सम्मोहन सबसे अधिक चर्चों में रहा है और इसलिए प्रेमी जोड़ों के परिणय का सबसे आदर्श केन्द्र चर्च को माना गया है, इसलिए चर्च में विवाह होते हैं।

कन्दरिया महादेव से एक ध्वस्त पुरातात्विक स्थल दिखाई देता है गाइड कहता है 'वह चौंसठ योगिनी मंदिर था जो सबसे अधिक प्राचीन और सबसे अधिक ध्वस्त मंदिर है।' समीप से जाकर देखने पर यह 'कणाशम' यानि ग्रेनाइट पत्थरों का ढेर है जो अपने समय में कठोर साधना का प्रशिक्षण स्थल सा दिखाई देता है। हमने गिनती की तो यहां चौंसठ कक्ष अभी भी विद्यमान हैं अधिकांश परे और कछ खंडित। ये छोटे

छोटे कक्ष ध्यान और ज्ञान के सघन केन्द्र थे। ये तन मन को सुध बुध रखने की कठोर साधना स्थली थी। संभव है इनमें ये चौंसठ कलाओं से या कुछ कम कलाओं से युक्त होकर योगिनी निकलती रही होंगी। कामसूत्र में जिन चौंसठ कलाओं का जिक्र है उनमें केवल काम वासना ही नहीं बल्कि नृत्य, संगीत और आलेख लेखन जैसी कई प्रदर्शन व ललित कलाएं भी हैं। यहां से सिद्धि प्राप्त करके और कलायुक्त होकर प्रशिक्षु लड़कियां योगिनी कहलाती थीं। तब इन योगिनियों को कन्दरिया में आयोजित दीक्षांत समारोह में सम्मानित किया जाता था इस दृष्टि से लगता है कि योगिनियां अपने युग में मातृसत्तात्मक संरचना में जी रहीं थीं और इसलिए स्त्रियां निर्णय का स्वतंत्र अवसर पा रही थीं।

चौंसठ योगिनी नामक साधना स्थल जबलपुर, ग्वालियर तथा अन्यत्र भी हैं। ये मंदिर लम्बे समय से परित्यक्त हैं जिनके कारण आज भी रहस्य बने हुए हैं पर इतना तो स्पष्ट है कि योगिनियां कला से परिपूर्ण थीं और जो कला से परिपूर्ण है वह जीवन से भी परिपूर्ण होगा। योगी जीवन से दूर भागता है पर योगिनी जीवन को अपनाती है। योगी अमरता की चाह रखता है तो योगिनी जीवन में आनंद की चाह रखती है। योगी इच्छाओं पर नियंत्रण चाहता है जबकि योगिनी सभी इच्छाओं को आजाद करने में विश्वास रखती है। किसी समय में आभूषणों से लदी ये स्त्रियां हिन्दू मंदिरों में रहती थीं जिन्होंने स्वयं को कला व नृत्य में डुबो रखा था। मंदिरों में गीत गातीं व संगीत रचतीं, वे किसी एक पुरुष से नहीं, ईश्वर से बंधी थीं और उनकी सुंदरता मंदिरों की दीवारों पर कमनीय प्रतिमाओं के रूप में उकेरी गई थी... और हम उन कलाकृतियों की छटा देखते यहां ठगे से खड़े रह गए थे। इन मंदिरों के देवी-देवताओं के बारे में संस्कृत लेख अस्पष्ट हैं। इनमें नामों की कई सूचियां तो हैं, अनुष्ठानों का जिक्र भी है लेकिन पौराणिक कथाएं नहीं हैं।

...पर भारत ने इन योगिनियों को पूरी तरह से भुलाया भी नहीं है। मध्यप्रदेश के मुरैना-मितावली के गोलाकार योगिनी मंदिर ने उन अंग्रेज वास्तुविदों को खासा प्रभावित किया था जिन्होंने संसद भवन का निर्माण करवाया। संसद भवन गोलाकार है, अनेक स्तंभों पर टिका इसमें गोलाकार प्रांगण है और एक केंद्रीय कक्ष (सेंट्रल हॉल) भी है। गौरतलब है कि संसद में आज 'भैरवों' की संख्या बहुत ज्यादा है, वहां भी शायद अब ज्यादा 'योगिनियों' की जरूरत है।

आचार्य रजनीश अपने प्रवचनों में इन दो स्थानों -कन्दरिया और चौंसठ योगिनी का विशेष उल्लेख करते थे। रजनीश के चिंतन पर खजुराहो की कला का बड़ा प्रभाव पड़ा था। यहीं से प्रेरित हुई होगी उनकी वह बहुचर्चित अवधारणा 'सम्भोग से समाधि तक।'

जिस युग में ये मंदिर बने थे उस युग में अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों पर विजय पाना मनुष्य के जीवन का लक्ष्य माना जाता था। इसलिए मंदिर की प्राचीरों पर चारों कर्मों को दर्शाया गया है। यह भी कहते हैं कि 'उस सदी में युद्ध का इतना चलन था कि लोग विरक्त होकर सन्यास लेने लगे थे। इसलिए सृष्टि के क्रम को बनाए रखने के लिए यह आवश्यक समझा गया हो कि पूजापाठ की तरह काम क्रीडा और मैथुन को नितांत आवश्यक बताया जाए और इस सन्देश को जन जन तक पहुँचाने के लिए ऐसी मूर्तियां बनाई जाएं ताकि प्रजा इसे भी जीवन का एक कर्म समझे। यह धारणा कोणार्क में और भी अधिक मान्य है कि 'कलिंग युद्ध के पश्चात जो वैधव्य विनाश व्याप्त हुआ उससे जन मन में वीतराग घर कर गया था तब पुनः जीवन में उत्साह के स्फुरण और संचार के लिए कोणार्क में कामसूत्रों की आकृतियां उकेरी गईं।' जैसे शिव कथाओं में काम को ध्वस्त करने के बाद नीरस जीवन का जो संकट उत्पन्न होता है तब ऐसे ही

प्रयोजन से काम को पुनर्जीवित किया जाता है।

केन नदी से ढो कर लाए बालू पत्थरों से निर्मित पिरामिडों की तरह खड़ी सरंचनाओं के बीच हम खड़े थे जिसमें कहीं कहीं ग्रेनाइट की चमक है। इन प्रस्तर खण्डों को मजबूती से जोड़ने के लिए लोहे की कीलों का प्रयोग दीख पड़ता है। इस जोड़ को भवन निर्माण की ताला-चाबी शैली कहा जाता है। इस शैली में पत्थरों को जोड़ने के लिए गुल्ली जैसे उभरे हुक का प्रयोग किया गया है। अनेक संप्रदायों-शैव, वैष्णव या जैन मंदिरों का पास पास निर्माण होना उस युग में व्याप्त धार्मिक सहिष्णुता का द्योतक है। भारत में जब जब भी मंदिरों, मूर्तियों, स्तूपों और विहारों का निर्माण हुआ यह सहिष्णुता बनी रही है।

परिसर के भीतर स्पेन मेड्रिड से आए दो समूहों से भेंट हुई। इनमें मिस्टर ए. एम. सी. टाटस व उनकी महिला मित्र से भी भेंट हुई उन्होंने हमसे हाथ मिलाया और गले मिले। वे तुरंत हमारे फेसबुक फ्रेंड बन गए और मैसेंजर में चौटिंग करने लगे हैं। वे अभी भारत दर्शन कर रहे हैं और उनकी फेसबुक वाल पर ताजमहल का चित्र है।

मंदिर परिसर के बाहर छोटा लेकिन सुन्दर बाजार है बल्कि कहें कि एक शिल्पग्राम है जो मंदिर बंद होने के बाद सैलानियों की भीड़ से गुलजार हो उठता है। इनमें सस्ते और और सुन्दर हस्तकला के मनोहारी समान मिलते हैं। मीना बाजार नाम की दुकान में बांस के रेशे से बनी साड़ियां मिलती हैं, कुर्ते व अन्य वस्त्र हैं। मैंने भी बांस के रेशे से बना एक गोल गले का 'फूल टी-शर्ट' खरीद लिया फिर उसे पहनकर अपनी फोटो उतरवाई और उसे फेसबुक में दोस्तों की मजेदार टिप्पणियों के लिए छोड़ दिया था। बाहर रिमझिम बारिश हो रही थी पर कला की फहार अपने भीतर लेकर हम लौट रहे थे।

संपर्क : 9009884014

## किसान मन का दर्द : रचना प्रक्रिया के क्षण

मिथिलेश्वर

मेरा नाम 'श्रीलाल शुक्ल स्मृति इफको सम्मान' की जब घोषणा हुई और तत्पश्चात् सम्मान समिति की ओर से मुझे जो पत्र मिला उसमें स्पष्ट शब्दों में अंकित था—“इफको, किसान के हितों के प्रति समर्पित भारत की प्रतिनिधि सहकारी संस्था है जो उच्च गुणवत्ता वाले उर्वरकों का उत्पादन एवं विपणन करती है। एक जिम्मेदार सहकारी संस्थान होने के नाते यह देश की भाषा, संस्कृति और कलाओं के संरक्षण और संवर्धन के प्रति भी सजग है। इस क्रम में इफको द्वारा प्रतिवर्ष एक ऐसे रचनाकार को सम्मानित किया जाता है जिनकी रचनाओं में ग्रामीण और कृषि जीवन से जुड़ी समस्याओं, आकांक्षाओं और संघर्षों को अभिव्यक्ति मिला हो।”

इस पत्र से अचानक मेरे अन्दर के उस किसान की ओर मेरा ध्यान आकृष्ट कर दिया जिसका सुख-दुःख तथा दर्द और दर्श मेरा भोगा हुआ यथार्थ था। लेकिन अब तक उस पर लिख नहीं सका था। ऐसे चिर-परिचित विषय पर, तो मुझे प्रारंभ में ही लिखना चाहिए था। शायद ग्रामीण जीवन की बहुविध, समस्यायें, विवश, लाचार और बहादुर चरित्र तथा ग्रामीण समाज की अविस्मरणीय घटनाएं ही मुझे प्रेरित करती रहीं जिसके तहत ‘यह अंत नहीं’ तथा ‘माटी कहे कुम्हार से’ जैसे बड़े उपन्यास लिख सका। साथ ही ‘हरिहर काका’, ‘नरेश बहु’, ‘गांव का मधेसर’, ‘तिरिया मनम’, ‘बाबूजी’, ‘चल खुसरो घर अपने’, ‘अभी भी’ तथा जमुनी जैसे कहानियां भी। मेरी इन रचनाओं में ग्रामीण जीवन से जुड़े विभिन्न कार्यों और समस्याओं को उजागर करने वाले चरित्र रहे हैं। इन चरित्रों में किसान और खेत मजदूर भी हैं लेकिन पूरी रचना कृषि और किसान केंद्रित हो, ऐसी एक भी कृति नहीं, इसलिए पुरस्कार समारोह के अवसर पर ही मैंने यह निर्णय कर लिया कि पूरी तरह किसान और कृषि केंद्रित विषय पर भी मुझे एक उपन्यास लिखना है। इस क्षण इस सम्मान ने मुझे बरबस कबीर दास की उस पंक्ति की याद दिला दी—“घर में वस्तु धरी नहीं सुझै, बाहर खोजन जासी” बस सम्मान समारोह से लौटते ही उपेक्षित विषय पर लिखने के लिए मेरा रचनाकार उन्मुख हो गया।

मेरा जन्म न सिर्फ एक किसान परिवार में हुआ बल्कि युवावस्था तक मेरा जीवन कृषि पर ही अवलंबित रहा। इस दृष्टि से कृषि और कृषक जीवन के हर्ष-विवाद, परेशानियाँ और समस्यायें, कष्ट और लगाव तथा सुखद और दुखद क्षणों की अनुभूतियाँ मेरे मन में ताज़ा हो उठी। उन सारी अनुभूतियों को जब मैं ‘तेरी संगी कोई नहीं’ नामक कृषक और कृषि आधारित अपने उपन्यास में बलेसर जैसे बत्तीस बीघे के एक किसान के माध्यम से खेती और किसानों को समग्रता में रचने बैठा तो जमीनी स्तर पर समय का व्यापक बदलाव मेरे समक्ष आ खड़ा हुआ। अब समय बिल्कुल बदल गया था। मेरे जमाने की वह खेती नहीं रह गयी थी। खेती में आमूल चूल परिवर्तन हो चुका था।

हम जब खेती करते थे उस वक्त हमारे यहां दो बैल अवश्य रखते थे। प्रेमचंद ने जो दो बैलों की कथा लिखी है वे खेती के लिए हल जोतने के लिए ही रखे जाते थे। तब हल, फाल, कुदाल, हेंगा, परिहथ आदि खेती के उपकरण होते थे। बनिहार और चरपाह के रूप में खेत-मजदूर हमारी उस खेती के

सहायक थे। रोपनी, कटनी, दपनी, जैसे अवसरों पर खेत की संख्या हमें बढ़ानी पड़ती थी। तब आसानी से खेत मजदूर मिल जाते थे। रोपनी के लिए मजदूर स्त्रियाँ भी। उस वक्त सिंचाई के लिए प्रकृति और मौसम पर आश्रित रहने के बावजूद हम रहट का प्रयोग खूब करते थे। पर्याप्त बारिश के अभाव में कुँओं से रहट के द्वारा पानी निकाल कर हम अपने खेतों का पटवन करते हालांकि हमारे उसी जमाने में पम्पिंगसेट और बोरिंग का आगमन भी हो गया था। हालांकि उस वक्त सभी गांवों से होकर बिजली नहीं गुजरी थी, इसलिए बोरिंग की संख्या सीमित थी। लेकिन पम्पिंगसेट की उपलब्धता अधिकांश जगहों पर कायम थी।

अपने खेतों की उर्वरा शक्ति को कायम रखने के लिए हम धूरपात डालते थे। वर्ष भर तक अपने घरों के कचरे और मवेशियों के गोबर को एकत्रित कर हम रखते। फिर खेती के समय कम्पोस्ट खाद के रूप में उन्हें अपने खेतों में फैला देते। वे हमारे खेतों की उर्वरा शक्ति को कायम रखते थे। तब खरीफ(धान) और रबी(गेहूँ, चना, मटर, खेसारी, तीसी आदि) की फसलें लहराती रहतीं। कटनी से हमारे खेतों को एकत्रित फसलें जब खलिहान में दवनी के तहत अनाज की ढेरियों में तब्दील हो जातीं तब हाट बाजार के बनिये सवारियाँ ले लेकर हमारे गांव आते और नगद खरीद के रूप में हमारे अनाज ले जाते। उस अनाज में से ही वर्ष भर अपने खाने के लिए रख तथा अगले साल की खेती के लिए 'बीज' के रूप में संचित रख शेष अनाज हम उन बनियों के हाथों नकद रकम पर बेच देते। हमारे वे संचित बीज बराबर के लिए उपयोगी बने रहते। अपनी उस खेती से न हम संपन्न थे और न विपन्न। न अधिक सुखी न अधिक दुःखी। लेकिन अपनी उस खेती से हम संतुष्ट जरूर थे। हमारे उस कृषक जीवन का अपना अलग आनंद और राग था। अपनी उस खेती में हम स्वतंत्र थे। हमारे मन को सुकून था। उसकी सीमाओं में जीना हमने सीख लिया था।

लेकिन तेजी से बदलते समय के तहत खेती में विकास के नाम पर जो वैज्ञानिक अविष्कार और प्रयोग हुए उससे अपने किसान मन के चरित्र बलेसर के माध्यम से जमीनी स्तर पर जब मैं रू-ब-रू हुआ तो मेरा रचनाकार मन पीड़ित हो उठा। मुझे लगा, जाने-अनजाने हमारी खेती और किसानों को उन्नत और विकसित खेती के नाम पर एक ऐसे चक्रव्यूह में डाल दिया गया है, जिससे चाहते हुए भी अब वे उबर नहीं सकते। विकास और सुविधा के नाम पर एक दायरे में उन्हें कैद कर दिया गया है। उस दायरे में रहने और जीने के लिए अब वे अभिशप्त हैं।

प्रचारित किया गया कि धूरपात की अपेक्षा रासायनिक खाद से खेतों की पैदावार बढ़ेगी। लेकिन इस खाद ने हमारे खेतों की बुनियादी उर्वरक क्षमता समाप्त कर दी। अब महंगी दरों पर यह भी खाद खरीदने को हमारे किसान विवश हैं, क्योंकि बगैर यह खाद दो-तीन बार डाले फसल हो ही नहीं सकती।

हाईब्रीड और उन्नत बीज के नाम पर कंपनियों द्वारा ऐसे बीज लाये गये जो एक बार के बाद अनुपयोगी हो जाते हैं। जबकि हमारे समय की कृषि के वे बीज कभी अनुपयोगी नहीं होते थे। इस तरह अब हर बार नए बीज खरीदने के लिए वे विवश हैं। हल बैलों की जगह, ट्रैक्टर, हावेस्टर, थ्रेसर, रोटावेटर, कल्टीवेटर, जीरो टिलेजज आदि यंत्रों की उपस्थिति कायम हो गयी जिनकी महंगी खरीद और भाड़े पर उपयोग की व्यवसायिकता प्रारंभ। इन यंत्रों और उपकरणों के संचालन के लिए भी मानव सहयोग आवश्यक। हालांकि गांधी जी ने मशीनों के सीमित उपयोग की बात कही थी। मशीनों के अत्यधिक उपयोग से मनुष्य के अन्दर बढ़ती संवेदनहीनता का संकेत किया था।

इस उपन्यास को लिखते हुए मैं अनुभव कर रहा था कि बदलते तौर-तरीकों की इस खेती की कठिन और जटिल समस्याओं को झेलते हुए हमारे किसान जब अनाज तैयार करते हैं तो सबसे बड़ी समस्या उस



अनाज की बिक्री को लेकर पैदा होती है, क्योंकि बनियों द्वारा नगद खरीद की परंपराओं को बंद कर पैक्स और व्यापार मंडल के सरकारी क्रय केन्द्रों पर ही वे अपने अनाज बेच सकते हैं, जहां नगद भुगतान की बात तो दूर, वर्षों तक उस भुगतान के लिए उन्हें प्रयासरत बने रहना होता था। इस स्थिति में अपने हक के लिए संगठित होकर संघर्ष और आन्दोलन का रास्ता ही उनके लिए शेष बचता है, इसलिए मेरे किसान मन की उपज बलेसर अपनी विभिन्न मांगों और आवश्यकताओं के तहत निहोरा राय के यहां बुलायी गयी जुटान में शामिल होने के लिए उत्साह से पहुंचते हैं, तथा अपने बकाये रकम के शीघ्र भुगतान, निर्धारित दर पर खाद का वितरण, नहर का रूका पानी, बिजली आदि के लिए संगठित होकर जुझारू संघर्ष और आन्दोलन में शामिल होने का निर्णय लेकर आते हैं। ऐसे ही निर्णयों से अब तक आंशिक ही सही, अपना हक पाते रहे हैं। इसलिए उपन्यास की पहली घटना के रूप में निहोरा राय के दालान पर किसानों की जुटान और संघर्ष के उनके निर्णय को प्रस्तुत करना मझे आवश्यक जान पड़ा।

मेरा किसान मन इस तथ्य से अवगत रहा है कि बाह्य समस्याओं और संकटों की अपेक्षा कृषि के आन्तरिक संकट भी हमारे किसानों को कमजोर बनाते रहे हैं। ये आन्तरिक संकट इस रूप में बंटे होते हैं कि इनके खिलाफ किसान संगठन बना कर लड़ भी नहीं सकते।

मैंने निकट से देखा है, पूरी तरह कृषि पर आधारित मेरे गांव के जिन किसानों की खेती टुकड़ों में बंटती है, सीमित होने लगती है, वे व्यथा और पीड़ा से परेशान हो जाते हैं। लेकिन यह उनकी ऐसी व्यथा होती है जिसे वे किसी से कह भी नहीं सकते। इस व्यथा के खिलाफ संगठन बना कर लड़ भी नहीं सकते। उनके इस आन्तरिक संकट की कई घटनाओं का मैं साक्षी और द्रष्टा रहा हूं। लेकिन इस उपन्यास के सीमित कलेवर

की योजना के तहत सिर्फ चार घटनाओं का ही उल्लेख कर सका।

पहली घटना एक ऐसे किसान परिवार की रही जिस घर का किसान पिता अपने चार लड़कों में से एक होनहार लड़के को पढ़ा-लिखा कर नौकरी में भेजना चाहता है ताकि कृषि और नौकरी की संयुक्त आय से उसका परिवार खुशहाल बन सके। उस पिता के निधन के बाद भी परिवार की संयुक्त व्यवस्था में पिता के सपने को साकार करने के लिए तीनों भाई अपने-अपने चौथे होनहार भाई को पढ़ा-लिखा कर नौकरी से जोड़ देते हैं। लेकिन नौकरी पाते और शादी होते ही वह होनहार भाई अपने भाईयों को खुशहाल बनाने की अपेक्षा उनपर वज्रपात करते हुए उनसे अपने हिस्से के खेत अलग कर बेच देता है। इस तरह लंबे समय से चली आ रही अपनी संयुक्त खेती को तोड़कर वह कमजोर बना देता है।

दूसरी घटना भी तीन भाईयों की खुशहाल संयुक्त कृषि को लेकर ही घटी। बड़े भाई के नेतृत्व और संग-साथ में दोनों छोटे भाई अपनी संयुक्त कृषि को दमदार बनाये रहते। लेकिन बड़े भाई की मृत्यु ने उनकी खेती के टुकड़े कर दिये। बड़े भाई को कोई संतान नहीं थी। इस स्थिति में बड़े भाई के ससुराल वाले और उनके दोनों छोटे भाई उनकी पत्नी से उनके हिस्से के खेत हड़पने के प्रयास में लग गये। इसी बीच अचानक एक भाई को अपने ससुराल की शादी और सपरिवार, जाना पड़ गया। इस स्थिति में दूसरे भाई ने षड्यंत्र के तहत भाभी को जबरन उनके हिस्से के खेत लिखवा उनकी हत्या कर साक्ष्य गायब कर दिया। इस रूप में पुनः एक अच्छा कृषक परिवार न सिर्फ खंडित हो गया, बल्कि आपसी केस-मुकदमे में भी उलझ गया।

तीसरी घटना भी दो भाईयों की अच्छी संयुक्त खेती को तोड़ने में सफल गांव के एक धर्मस्थल से जुड़ी रही। बहुत अच्छी खेती थी उन दोनों भाईयों की। उसमें एक भाई की संतान नहीं थी। पत्नी के निधन के



बाद वह विधुर हो गया था। उस विधुर भाई को परलोक में स्वर्ग का झांसा देकर एक धर्मस्थल ने उसके हिस्से के खेत लिखवा लिये और फिर तीर्थाटन के बहाने उसे गायब कर दिया। इस घटना ने भी मेरे गांव के एक किसान परिवार को तोड़कर न सिर्फ कमजोर बना दिया बल्कि केस-मकदमे के चक्कर में भी डाल दिया।

किसानों की खेती खंडित होकर कमजोर होने की चौथी घटना किसान पुत्रियों की शादियाँ और गंभीर बीमारियाँ रही हैं। बीमारियों को तो वे झेल भी जाते हैं, लेकिन अपनी बेटियों की शादियों में दहेज की परंपरा के तहत न चाहते हुए भी उनकी खेती के टुकड़े हो ही जाते हैं। खेती की आय ऐसी नहीं होती कि दहेज के लिए वे रुपये संचित कर रख सकें। इस स्थिति में बेटों की शादी लगते ही अपनी खेती के एक हिस्से को उन्हें बेचना या गिरवी(रेहन) रखना पड़ता। ऐसा करते ही वह किसान परिवार कमजोर बन जाता।

इन चारों घटनाओं ने बलेसर के रूप में मेरे किसान मन को बहुत दुःखी और पीड़ित किया है। बलेसर के रूप में इन घटनाओं के प्रति न सिर्फ मेरी सहानुभूति रही है बल्कि अपनी सीमाओं में उस पीड़ित किसान के साथ खड़ा भी रहा हूँ।

खेती की बाह्य समस्याओं के साथ उनकी इन आन्तरिक समस्याओं में सबसे बड़ी समस्या खेती से पलायन की मुझे लगी है, इसलिए इसका उल्लेख निष्कर्ष के रूप में अंत में करना मुझे वाजिब प्रतीत हुआ। खेती से पलायन की इस त्रासदी ने मेरे रचनाकार मन को कहीं गहरे आहत और पीड़ित कर दिया है। गांवों की नई पीढ़ी, यानी किसानों के वंशज तेजी से बदलती दुनिया में यह जान चुके हैं कि उपेक्षा के अंतिम पायदान पर पड़ी कृषि से जुड़े रहना अब किसी भी दृष्टि से उचित नहीं। इस स्थिति में अपनी खेती बेच

शहरवासी होकर किसी रोजगार से जुड़ने में ही वे अपना भविष्य देखने लगे हैं। उनके जानते शहर का कोई भी रोजगार उनकी कृषि से बेहतर ही है। शायद यही वजह है कि बड़ी संख्या में गांवों से किसानों का पलायन जारी है।

सत्तर के दशक में जब अपने गांव से अपने छोटे शहर आरा में मैं आया था, तब मेरा यह शहर अत्यंत सीमित था। लेकिन तेजी से बदलते समय में यह विस्तार लेता चला गया। उस विस्तार की जानकारी पर सहज ही यह ज्ञात हुआ कि यहां के नौकरी जीवियों की वजह से यह विस्तार नहीं, गांवों से खेत बेचकर शहर आने वाले किसानों की वजह से रहा है।

मेरे जानते कृषि के समक्ष ऐसा संकट इससे पहले कभी नहीं आया था। इस दृष्टि से इस संकट को अपने इस उपन्यास के केन्द्र में रखते हुए इसकी ओर सबका ध्यान आकृष्ट करने की मैंने कोशिश की है। मेरे मन के किसान बलेसर के तीनों पुत्र भी प्रारम्भ से अंत तक बलेसर पर यह दबाव बनाते रहे कि वे खेत बेचकर उनके साथ शहरवासी हो जाय। लेकिन मेरे किसान मन को यह गवारा नहीं हुआ। इसलिए अंत तक मेरे मन के किसान बलेसर खेत बेचने के लिए तैयार नहीं हुए। अपनी खेती पर डटे रहते हुए अपनी खेती के बीच ही अपनी अंत का विकल्प उन्होंने चुना। यह सिर्फ मेरे किसान मन का ही दर्द नहीं, पुरानी पीढ़ी के सभी किसानों का दर्द है, जो कृषि को पुश्त-दर-पुश्त चलने वाली स्थायी सम्पत्ति और जीविका का स्थायी स्रोत मानते रहे। मेरे जानते खेती से इस पलायन को अगर रोका नहीं गया तो बर्बाद होती कृषि व्यवस्था का परिणाम हमारे लोकतांत्रिक विकास के समक्ष फन काढ़े नाग की तरह खड़ा प्रतीत होगा, क्योंकि कृषि के विकास के बगैर हमारा सम्यक विकास कभी संभव नहीं।

संपर्क : 09431683936

## चौतरफे संकटों से जूझते किसानों की संघर्ष गाथा

अमित कुमार

प्रख्यात कथाकार मिथिलेश्वर का उपन्यास 'तेरा संगी कोई नहीं' ऐसे समय में प्रकाशित हुआ है जब पूरे देश में किसानों ने अपनी बहुविध समस्याओं को लेकर न सिर्फ आंदोलन और संघर्ष का रास्ता अख्तियार कर लिया है, बल्कि मीडिया से लेकर समाज और शासन तक हर जगह उनकी समस्याओं पर विमर्श जारी है। विदित है कि कृषि और किसानों की बदहाली के रहते हम अपने देश और समाज को बेहतर स्वरूप नहीं प्रदान कर सकते। इस दृष्टि से कृषि और किसानों पर केन्द्रित मिथिलेश्वर का यह नया उपन्यास 'तेरा संगी कोई नहीं' हमारे समय से संवादरत एवं प्रासंगिक उपन्यास है। यह उपन्यास कृषि और किसानों की समस्याओं को समझने के लिए हमें एक नई दृष्टि प्रदान करता है। साथ ही कृषि से पलायन की त्रासदी से पाठकों को अवगत करता है। साथ ही आने वाले भविष्य में कृषि की इस गंभीर समस्या की ओर सबको आगाह करता है।

'तेरा संगी कोई नहीं' के नायक बलेसर अपने गांव बलहारी के एक किसान हैं। बत्तीस बीघे की अपनी खेती-किसानों पर उनका जीवन अवलंबित है। उनके ये बत्तीस बीघे खेत पुश्तों से चले आ रहे हैं। इस 'बत्तीस बिगहवा' में खेती-किसानी कर उनके पुरखे भी अपने परिवार का भरण-पोषण करते आये थे। पुरखों से विरासत में प्राप्त इस पुश्तैनी जमीन पर ही बलेसर मजबूती से खड़े थे। खेती-किसानी के महत्व पर आधारित इस लोकोक्ति- 'उत्तम खेती, मध्यम वान, नीच चाकरी, भीख निदान के तहत वे अपने बेटों को भी प्रारंभिक शिक्षा के बाद कृषि कार्य में ही रखना चाहते थे। मानव सहयोग पर कृषि की अच्छी पैदावार और सफलता से वे अवगत थे। साथ ही दूसरों की चाकरी की अपेक्षा अपनी खेती को वे उत्तम मानते थे। लेकिन बदलते समय के तहत स्कूल-कॉलेज में पढ़ने वाले बलेसर के लड़के समझने लगे थे कि कृषि से परंपरागत और आन्तरिक लगाव की वजह से ही उनके पिता उन्हें कृषि कार्य से जोड़ना चाह रहे, जबकि कृषि निरंतर घाटे का सौदा बनती जा रही है। इसीलिए इण्टर तक की शिक्षा के बाद प्रतियोगिता परीक्षा के माध्यम से सचिवालय क्लर्क बन चुका उनका बड़ा बेटा कुलराखन उनसे स्पष्ट शब्दों में कहता है— "अब खेती से जुड़े रहना किसी भी दृष्टि से फायदेमंद नहीं पिताजी। कृषि कार्य तो अब घाटे और कष्ट का सबब बन गया है। आने वाले समय में खेती-बधारी को लेकर और मुश्किलें कायम होंगी। होश संभालने के बाद मैं। स्वयं देखते आ रहा हूँ, इस खेती से उबरने की अपेक्षा हम अधिक परेशान ही होते रहे हैं। ...जब सरभि दीदी की शादी में दहेज की जरूरत पड़ी तो कहां थे आपके पास

रुपये। अन्ततः तीन बीघो खेत रेहन(गिरवी) रखने पड़े। उन खेतों को हम आज तक मुक्त नहीं करा सके। कृषि कार्य के लिए अब पहले जैसे मजदूर भी नहीं मिलते। खेती की अपेक्षा अन्य कार्यों में वे चले जाते हैं। अब खेती की सीमित आय से उनका गुजर-बसर संभव नहीं...इसीलिए समय रहते हमें भी उनकी कृषि सम्पत्ति शहर में स्थानान्तरित कर लेनी चाहिए। यही सोचकर ही खेतों की बिक्री के लिए मैंने अनुरोध किया है। आपकी बढ़ती अवस्था और कृषि की घनघोर होती दुरुह समस्या को देख कर ही मैं ऐसा चाह रहा हूँ।... इस स्थिति में त्रस्त होकर ही विभिन्न गांवों के किसान अब आये दिन अपनी खेत-बध्दार बेचकर शहरों में बसने लगे और नए कारोबार से जुड़ने लगे...

बलेसर के अन्य दोनों बेटों मनराखन और जगपूरन की राय भी यही थी। इस मामले में वे अपने बड़े भाई के ही साथ थे। उनके अनुसार शहर के एक चपरासी का जीवन भी खेतों के मालिक एक किसान की अपेक्षा अधिक सुखी और सुविधा संपन्न था।

अपने पुत्रों के प्रस्ताव को बलेसर के किसान मन से सिरे से खारिज कर दिया—“तुम लोगों ने जो कहा है, मैं उसे पहले से ही जानता हूँ। लेकिन तुम लोगों के कहे पर अपनी जगह जमीन बेचकर मैं पलायन करने वाला नहीं...। कृषि कार्य से मैंने संघर्ष करना सीखा है और यह जानता हूँ कि संघर्ष ही जीवन है...। मैंने कभी सपने में भी नहीं सोचा था कि मेरे जैसे किसान के पुत्र ऐसे भगेडु और शहरवासी हो जायेंगे...। मैं तुम लोगों से पूछता हूँ, जो चीज हमने खरीदी नहीं। अपने उपार्जन से हासिल नहीं की, उसे बेचने का हमारा क्या अधिकार? हमारे पुरखे तुम लोगों की तरह होते तो आज जन्मजात हम बत्तीस बिगहवा के स्वामी नहीं हो जाते। खेत-बध्दार पुश्त-दर-पुश्त चलनेवाला जीविका का साधन होता है। शहर में कमाने खाने वालों की हैसियत खेत खरीदने की कभी नहीं हो सकती...। एक बात तम लोग समझ लो. शहर का कोई कार्यालय. कोई

कल-कारखाना अनाज नहीं पैदा कर सकता, जिसे खाकर पूरी दुनिया जीवित रहती है। इसका मतलब यह है कि शहर का जीवन भी हम किसानों पर ही निर्भर है।...हम धरती पुत्र हैं। हमारे जैसे किसान हार मानकर शहर में पलायन करने वाले नहीं। तुम लोग कान खोलकर सुन लो, परिस्थिति चाहे जैसी आ जाय, अपनी खेती बेचकर मैं शहरवासी नहीं हो सकता। कृषि की समस्याओं के बीच मैं मैं हर अवस्था तक पहुँचा हूँ।”

अपने पुत्रों के कृषि से पलायन का दंश झेलते हुए बलेसर निहोरा राय के दालान पर पहुँचते हैं, जहाँ सूखते खेतों को पानी, धान की फसलों के लिए खाद और पिछले वर्ष सरकारी क्रय केन्द्रों पर बिके अपने अनाज की रकम के लिए जोरदार और जुझारू संघर्ष के लिए जुटान का आयोजन किया गया है। बलेसर इस जुटान में समय से शामिल हो जाते हैं। किसानों के ऐसे संगठित प्रयास और संघर्ष पर ही वे अब तक अपनी खेती को तमाम विपरीत परिस्थितियों के बावजूद कायम रख सके हैं। बलहारी के किसान जान चुके हैं कि इस तरह संगठित होकर संघर्ष के सिवा उनके पास अब दूसरा विकल्प नहीं...। पैक्स से धान की बकाया रकम तथा ईख मिलों की बंदी के ईख की बकाया रकम और खाद वितरण की सरकारी दूकानों पर तालाबंदी के निर्णय के बाद निहोरा राय ने कहा—“बिजली ऑफिस और ब्लॉक का घेराव। लेकिन नहर के पानी के लिए सिंचाई ऑफिस पर हमारा सामुहिक दबाव, प्रदर्शन और घेराव...। इस सम्बन्ध में हम जैसा निर्णय कर चुके हैं, कल सुबह बरगद के पास हम सबको एकत्रित होता है...। आगे के कार्य वहीं से सम्पन्न होंगे...।

बलेसर जानते थे, कृषि से सम्बन्धित समस्याओं के लिए बलहारी के किसानों की जुटान पर गांव में स्थिति बरगद के नीचे एकत्रित होकर अपने आंदोलन और संघर्ष को अंजाम देते रहे हैं। इस रास्ते अपने हक की लड़ाई में वे परी तरह सफल तो नहीं होते हैं। लेकिन

आंशिक सफलता तो उन्हें मिलती ही है।

अपने किसान जीवन के तहत बलेसर यह अनुभव करते रहे हैं कि उनकी कृषि पर बाह्य और आन्तरिक दोनों तरह के संकट कायम रहे हैं। अपनी बेटियों की शादियों और अपने परिजनों की गंभीर बीमारियों पर किसानों को अपने खेत बेचने या रेहन पड़ते हैं। अपनी पुत्री सुरभि की शादी में बलेसर को भी अपने तीन बीघे खेत गिरवी रखने पड़े जो आज तक मुक्त नहीं हो सके। पिता के निधन के बाद पुत्रों द्वारा खेतों का बटवारा, शहरवासी भाई द्वारा गांव में खेती पर आश्रित भाइयों से अपने खेत अलग कर बेच देना। गांव के धार्मिक स्थलों द्वारा किसी सीधे-सच्चे किसान को परलोक में स्वर्गप्राप्ति के नाम पर उसके खेत लिखवा लेना आदि ऐसी घटनाएं रही हैं जो कृषि से गहरे में जुड़े किसानों को कमजोर बनाती रही हैं। इस उपन्यास में कृषि के इस आन्तरिक संकट को लेकर तीन-चार घटनाएं हैं, जिनसे बलेसर एक ग्रामीण के रूप में न सिर्फ जुड़े-जुड़े, बल्कि उनके सच्चे किसान मन को इस आन्तरिक घटनाओं ने आहत भी किया।

लेकिन जो घटना उपन्यास की केन्द्रीय घटना है और जिसने बलेसर जैसे जमीन से जुड़े समर्पित किसान के जीवन को अपने लहराते फसलों के बीच समाहित कर दिया, वह किसान के वंशजों द्वारा खेती से पलायन

है।

जन्मजात और पारंपरिक किसान चेतना से जुड़े बलेसर, पुत्रों के निरंतर प्रयास के बावजूद अपने खेत बेचकर शहरवासी होने के लिए तैयार नहीं हुए। घर में पत्नी के रहते अपनी पुश्तैनी खेती से वंचित होने के लिए उनका किसान मन हर्गिज तैयार नहीं था। लेकिन अचानक लकवा ग्रस्त होकर इलाज के लिए पत्नी का शहर में जाना और चिकित्सक के परामर्श पर वही बेटों के पास रहने ने बलेसर को निपट अकेला कर दिया। कृषि का अर्जन-उपार्जन अकेले के लिए नहीं होता, वह भी वार्धक्य की उम्र में। इस स्थिति में भी खेतों से पलायन का रास्ता अख्तियार न कर बलेसर ने धान के अपने लहराते पौधों के बीच अपने को समाहित कर दिया। यह घटना बलेसर की आत्महत्या नहीं, बल्कि इस रूप में यहां बलेसर का अंत कृषि से पलायन की त्रासदी के खिलाफ एक सार्थक आह्वान का संकेत बन गया है।

निष्कर्षतः कृषि से पलायन की त्रासदी जैसे सर्वथा नए विषय पर कृषि और किसान केन्द्रित यह उपन्यास अपनी तरह का अलग और विशिष्ट पहचान रखनेवाला उपन्यास है। विश्वास है, 'गोदान' और 'मैला आंचल' की परंपरा में अपने वैशिष्ट्य को लेकर यह उपन्यास ऐतिहासिक महत्व का संग्रहणीय उपन्यास साबित होगा।

**समीक्षित पस्तक : तेरा संगी कोई नहीं**

प्रथम संस्करण : 2018, मूल्य : 200 (पेपर बैक)

प्रकाशक : लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल,

दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-211001

## यथार्थ के धरातल पर खड़ी कहानियाँ (अखिलेश का कथा-संसार)

सीमा चौधरी

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। अतः समाज के बाहर किसी भी मनुष्य के अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती है। समाज में रहकर, इसके नियमों के अनुरूप ढलकर ही मनुष्य जीवन पथ पर आगे बढ़ता है एवं उन्नति कर पाता है। चूँकि साहित्य को समाज का दर्पण माना गया है। अतः इसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति हमें समकालीन साहित्य में भलीभाँति देखने को मिलती है। समकालीन कहानीकार समाज के यथार्थ को पूर्ण रूप में पाठकों के समक्ष रखने की पूरी चेष्टा करते हैं। इस संदर्भ में 'पुष्पपाल सिंह' कहते हैं "आज कहानी में सामाजिक परिदृश्य इस रूप में मूर्त हुआ है कि एक ओर तो वह जीवन की विषमताओं एवं विसंगतियों को प्रत्यक्ष करता है और साथ ही दूसरी ओर उसमें एक लेखकीय सोच है, जो निश्चय ही सड़ी-गली व्यवस्था और भ्रष्ट आचरण को जड़मूल से उखाड़ फेंकने की समानांतर सोच एक सही सोच विकसित करने का श्रेष्ठ उपक्रम सिद्ध होती है। इसी रूप में आज कहानीकार एक रचनात्मक दायित्व का निर्वाह करता हुआ अपने सर्जनशील व्यक्तित्व को स्थापित करता है। इस रचनात्मक दायित्व को पूरी शिद्दत से निभाते हुए आगे बढ़ रहे कहानीकारों में 'अखिलेश' एक महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इनके कुल चार कहानी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं—'आदमी नहीं टूटता', (1883), 'मुक्ति' (1989), 'शापग्रस्त' (1997) एवं अँधेरा (2006)। चारों कहानी संग्रहों की कहानियाँ काफी उत्तम दर्जे की हैं एवं उनमें समकालीन समाज का यथार्थ पूर्ण रूप से अभिव्यक्त हुआ है। 'खगेन्द्र ठाकुर' के शब्दों में कहें तो "जीवन और समाज के यथार्थ को पहचानने और पकड़ने की प्रशंसनीय क्षमता अखिलेश में है।

सर्वप्रथम उनकी कहानी 'शापग्रस्त' की बात की जाय तो इस कहानी पर हाल ही में एक फिल्म भी बनकर आ चुकी है। कहानी का पात्र प्रमोद एक ऐसा व्यक्ति है जो अपने को सुखी नहीं मानता। जीवन में सब कुछ होने के बावजूद भी वह एक अधूरेपन से घिरा रहता है। अपनी पत्नी से कहता है "सरोज मैं सुखी नहीं हूँ। मेरी आत्मा मुझको मथती है और मैं परेशान हो जाता हूँ। वाकई मैं सुखी नहीं हूँ। मैं क्या करूँ सरोज? सबसे बड़ी परेशानी यह है कि उसे अपने सुखी न होने का कारण ही मालम नहीं है। वह पेशे से इंजीनियर है। भौतिक सख-सविधाओं की घर में कोई

कमी नहीं है। परन्तु वह अपनी जिन्दगी से नाखुश है। अपने मन की शांति के लिए वह नौकरी से सस्पेंड होना चाहता है और इसके लिए अनेक पैंतरे अपनाता है। अपने ऑफिस में तरह-तरह की बेतुकी बातें एवं हरकतें करने लगता है। किन्तु वह सस्पेंड नहीं होता बल्कि कार्यालय में उसका सम्मान और बढ़ ही जाता है। लोग सोचने लगते हैं “जिस शख्स ने बड़े साहब को सरेआम बेइज्जत किया और उसके बदले में बड़ा काम पा गया हो, उसके क्या कहने। इसी क्रम में वह एक सौ बारह साल की बुढ़िया से मिलने जाता है। बुढ़िया के पूछने पर कि उसे कोढ़ है या मिर्गी, वह बताता है। “बुढ़िया, मैं बहुत परेशान हूँ। कई महीनों से सुख खोज रहा हूँ। जगह-जगह ढूँढ़ा। भाँति-भाँति से ढूँढ़ा, पर वह मिल नहीं रहा है। बता बुढ़िया मैं सुखी कैसे हूँगा? बुढ़िया उसे बतलाती है वह दुःखी ही कब था, जो अब सुख खोज रहा है। इस प्रकरण के बाद वह दुःखी ही कब था, जो अब सुख खोज रहा है। इस प्रकरण के बाद वह दुःखी होने का प्रयत्न करने लगता है। इस संबंध में ‘विश्वनाथ त्रिपाठी’ जी कहते हैं “अपने को छोड़कर वह किसी और के बारे में सोचता ही नहीं। उसका दुख भी छद्म है। सच्चे सुख का अभाव ही उसकी शापग्रस्तता है। वास्तव में इस शापग्रस्तता से वर्तमान समाज का लगभग हर एक व्यक्ति ग्रसित है। भूमंडलीकरण के इस दौर में भले जी सब कुछ एक-दूसरे से जुड़ गया है परन्तु मनुष्य की आत्मा खो गई है। अतः प्रमोद वर्मा जैसे लोग न सुखी हो पा रहे हैं न दुःखी। यह एक विडम्बनात्मक स्थिति है। ‘चिट्ठी’ कहानी समाज की युवा-पीढ़ी में व्याप्त लक्ष्यहीनता, गैरजिम्मेदारी एवं भटकाव को दर्शाती है। कहानी की युवा मंडली के सदस्य-प्रदीप, रघुराज, कृष्णमणि त्रिपाठी, विनोद, दीनानाथ, त्रिलोकी, मदन मिश्रा आदि के द्वारा अखिलेश ने इसी सत्य को उजागर किया है। आर्थिक विपन्नता युवाओं में असुरक्षा, घुटन, ऊब, कुंठा, अजनबीपन का संचार करती है। त्रिलोकी कहता है “जिसके पास कोई काम नहीं होता. वह

आदमी नहीं होता। हम आदमी नहीं हैं...इस व्यवस्था ने हमें आदमी नहीं रहने दिया...?” यह एक कटु सत्य ही है कि ‘अर्थ’ के अभाव में रिश्ते-नाते, संबंध सभी अर्थहीन हो जाते हैं। समाज और व्यवस्था उसी की है जिसके पास अर्थ है। अतः बेरोजगारी की चपेट में आकर एवं आर्थिक विपन्नता की स्थिति में ये युवा-वर्ग अपने सुखी होने को लेकर सशंकित हो उठते हैं। सारे दोस्त आपस में तय करते हैं कि “हममें से यदि कोई कभी सुखी हुआ तो सारे दोस्तों को खत लिखेगा।” परन्तु किसी भी दोस्त को दूसरे दोस्त की चिट्ठी कभी नहीं पहुंचती। बेरोजगारी की इस मार को ‘मुक्ति’ कहानी का ‘सुभाष’ भी झेलता है। इसके कारण वह अपना प्रभावशाली व्यक्तित्व भी खो बैठता है एवं मारा-मारा फिरकर भटकाव का शिकार होता है। परन्तु भटकाव का शिकार होकर भी वह अंततः अपनी मुक्ति का मार्ग ढूँढ़ने में सफल रहता है। कहानी के अंतिम दो वाक्य हैं “वह पूरा का पूरा अच्छा लगने लगा है। वह ठहाके भी लगाता है। अर्थ यह कि वस्तुवादी वातावरण से अपने को मुक्त कर वास्तविक जीवन की ओर मुड़ने में वह सफल होता है। ‘अचानक नहीं’ कहानी में हम पाते हैं कि नारायण और सुग्गी अपना पेट काटकर बड़े लड़के दिनेश को बाहर पढ़ने भेजते हैं। वे चाहते हैं कि दिनेश पढ़-लिखकर बड़ा अफसर बने। दिनेश ने भी खूब मेहनत की परन्तु असफल ही रहा। इस संदर्भ में कहानी की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं। “अफसर की कौन कहे, क्लर्की का मोहताज हो गया। जिंदगी बसर करने तक का लाला पड़ गया। रोज अर्जी लिखना, लिखित और मौखिक परीक्षाएँ देना, नियुक्ति-पत्र का इंतजार करना और दर-बदर मारा-मारा फिरना, ठोकरें खाना, यही उसकी दिनचर्या थी। अंततः वह चपरासी की नौकरी स्वीकारने को मजबूर हो जाता है। परन्तु इस नौकरी के लिए भी उसे ढाई हजार घूस देना पड़ता है। व्यवस्था का कुचक्र ऐसा है कि उसे घस देकर चपरासी बनना पड़ जाता है।



‘बायोडाटा’ कहानी का नायक राजदेव राजनीति में सफलता प्राप्त करना चाहता है। छत्तीस की उम्र में शादी करता है, वह भी इस डर से कि कहीं बाद में उसकी शादी ही न हो। परन्तु लोगों के समक्ष यह ऐलान करता है कि उसने शादी करके एक गरीब लड़की का उद्धार किया। उसे ऐसा लगता है कि ऐसा करके उसने अपने बायोडाटा में एक प्लस प्वाइंट जोड़ा है। उसका मानना था कि “हम लोगों के लिए राजनीति जीवनसंगिनी है और जीवनसंगिनी रखैल। जो रखैल को जीवनसंगिनी समझता है, लक्ष्य सदैव उससे दूर रहता है। राजनीति की चरम सीमा पर पहुँचना ही उसका एकमात्र लक्ष्य बन जाता है। रिश्ते-नाते संबंध उसके लिए कुछ नहीं रह जाते। अपने गर्भवती पत्नी के प्रति उसमें कोई अपनत्व भाव नहीं रह जाता। जिस समय वह दिल्ली जाने के लिए स्टेशन पर रहता है, उस समय मोती सिंह से उसे सूचना मिलती है कि उसकी पत्नी ने एक अजीब संतान को जन्म दिया है, जिसके मुँह में चारों पहल लार बहती रहती है। पत्नी भी जीवन हेतु संघर्ष कर रही है उस समय राजदेव तनिक भी विचलित नहीं होता है अपितु यह सोचने लगता है कि “दोनों मर गए तो? उसने निश्चय किया, यदि ऐसा हुआ तो, अपने बायोडाटा में जोड़ेगा : पब्लिक की सेवा में-पार्टी की खिदमत में-गृहस्थी तबाह हो गई। परिवार उजड़ गया। वर्तमान मनुष्य में व्याप्त संवेदनहीनता, स्वार्थपरता, अवसरवादिता का यह एक ज्वलंत उदाहरण है। अगली शताब्दी के प्यार का रिहर्सल कहानी में जितेन्द्र एवं दीपा के माध्यम से अखिलेश ने दिखाने की कोशिश की है कि प्रेम जैसी पावन भावना को भी उपभोक्ता संस्कृति ने संक्रमित कर दिया है। कहानी की नायिका दीपा तीन-चार बार प्रेम कर चुकी है। शादी से पहले ही लड़कों को अच्छी तरह परख लेना चाहती है। उसका मानना है कि “माना कि प्यार एक से किया जाता है, पर अन्य दो-चार लोगों से रब्त-जब्त तो बना सकती थी। निरी बद्ध की बद्ध रह गई। ऐसा

होता, तो आज कितनी निश्चिन्त होती। यह आई.ए.एस. में नहीं आया तो वह सही। वह नहीं आया, वह सही।” उधर जितेन्द्र के भी मनोविचार कुछ इसी प्रकार के हैं। वह भी दीपा से दौलत पाने की लालसा में प्रेम करता है। दोनों में एक-दूसरे के प्रति सच्चा समर्पण है ही नहीं। दोनों ही अपने भविष्य को सुरक्षित कर लेने की फिराक में प्रेम करते हैं। दीपा के पिता विपिन सिंह एक अमीर व्यक्ति हैं। अब वे राजनीति में भी सफलता प्राप्त करना चाहते हैं। अतः पार्टी में टिकट पाने के लिए सोचते हैं अगर पार्टी अध्यक्ष के भतीजे से बेटी का रिश्ता हो गया होता तो टिकट उन्हें पक्का मिल ही जाता। इन सब से इस बात की पुष्टि होती है कि समकालीन यथार्थ यही है कि रिश्ते नाते अब भावनाओं पर केन्द्रित नहीं होते हैं अपितु पद, पावर, पैसे पर केन्द्रित हैं। ‘घाल-मेल’ कहानी में सुशील कुमार अमृता के आकर्षण में पड़कर गीता को छोड़ देता है एवं अमृता से प्रेम-प्रसंग शुरू कर देता है। अमृता भी इस प्रेम-प्रसंग का भरपूर आनन्द उठाती है परन्तु जब शादी की बात आती है तो माता-पिता द्वारा चुने डॉक्टर से शादी रचाने को राजी हो जाती है। जब सुशील अमृता से ठगा जाता है तो पुनः गीता के पास जाने की सोचता है ऐसा लगता है मानो प्रेम कोई भावना न होकर मात्र घाटे-नुकसान का सौदा है। सुशील के पुनः प्रेम प्रसंग को शुरू करने की प्रार्थना का जवाब गीता कुछ इस प्रकार देती है—“हम पांच बहनें हैं और हमारे पिता के पास पैसे नहीं हैं। अगर तुम दहेज न लो, तो मैं तुम्हारे साथ शादी कर सकती हूँ, लेकिन प्रेम नहीं। अर्थात् गीता अच्छे से जानती है कि सुशील उससे सच्चा प्रेम नहीं करता परन्तु वह उससे शादी के लिए हाँ कर देती है, यह सोचकर कि उसकी शादी हो जाने पर गरीबी की मार सह रहे उसके परिवार का थोड़ा बोझ कम जाएगा। ऐसी ही विरोधात्मक स्थिति देखने को मिलती है ‘पाताल’ कहानी में। सुषमा के बांझ न होने पर भी यह व्यवस्था उसे बांझ होने पर

मजबूर कर देती है। उसकी तीव्र इच्छा होती है कि वह प्रतिकार करें परन्तु चाह कर भी कुछ कर नहीं पाती। उसका पति जो स्वयं नपुंसक है उससे पूछता है “क्यों हरामजादी, तू बाँझ है क्या?” प्रेमनाथ के माता-पिता इस तथ्य से भली-भाँति परिचित हैं कि उनका पुत्र कमअक्ल होने के साथ-साथ नपुंसक भी है। परन्तु समाज के सम्मुख वे सषमा पर ही बाँझ होने का इल्जाम लगाते हैं।

भूममंडलीकरण एवं उदारीकरण ने मानवीय संबंधों को किस प्रकार संवेदनहीन बना दिया है, उसका उदाहरण ‘जलडमरूमध्य’ कहानी में देखने को मिलता है। मनजीत एवं चिन्मय एक ऐसे दम्पति हैं जो चारित्रिक दृष्टि से काफी गिरे हुए हैं। जिस पिता ने उनके आराम से जीवन गुजर करने के वास्ते कभी दो चेक बिना सोचे दे दिया था एवं कहा था मकान एवं कार की रकम भर लेना, उसी पिता की संपत्ति जल्द से जल्द उन्हें मिल जाए एवं वे उसका इस्तेमाल अपने हित में अपने तरीके से करें। चिन्मय कहता है “चिरैयाकोट में न जाने कितनी प्रापटी होगी। सुनते तो हैं बहुत है। यह भी सुना जाता है कि करोड़ रुपए का तो गोल्ड होगा। मम्मी-पापा के बैंक एकाउंट मिलकर हमें हैरत में डाल देंगे, इसका मुझे पूरा यकीन है। वे केवल अपने हित का सोचते हैं परन्तु एक बार भी यह नहीं सोचते कि पिता की मनोदशा क्या होगी। चिन्मय के पिता अर्थात् सहायजी की दशा, पर विचार करते हुए ‘विश्वनाथ त्रिपाठी’ कहते हैं “सहायजी जितने वैभवशाली, गरिमाय थे, अब उतने ही असहाय और करुण हैं। पुराना समय पूर्वदीप्ति से सामने आता है। साक्षात् सामने। उन्हें असहायता और न रो पाने की बीमारी है। आँसुओं का सूख जाना, रो न पाने की बीमारी-अनुभव रहित भाव भी वस्तुतः अनुभाव ही है-ऐसी तीव्र यातना का कि जो वह इतनी मर्मभेदी है कि प्रकट नहीं हो सकती।” हमारे समाज में आज न जाने कितने सहाय जी असहाय बनकर घम रहे हैं। यह एक पतनोन्मुख स्थिति है।

संबंधों में आए संवेदनहीनता एवं बनावटीपन को हम ‘हाकिम-कथा’ कहानी में भी देख पाते हैं। कहानी का प्रत्येक पात्र एक-दूसरे का मात्र उपयोग करना जानता है। एक समय ऐसा भी था जब पुनीत ने गायत्री की सरलता से रीझकर उससे प्रेम विवाह किया था। परन्तु धीरे-धीरे समय ने ऐसी करवट ली कि पुनीत उपभोक्ता संस्कृति का शिकार बन गया। जिस गायत्री से उसने प्रेम विवाह किया था उससे उसका संबंध-विच्छेद हो गया एवं उसने दूसरी शादी कर डाली। पुनीत की दो पुत्रियाँ अपर्णा एवं संध्या पूरी तरह से पिता की कार्बन-कॉपी ही बनी। रिश्ते-नाते, संबंध आदि से इनका कभी कोई नाता न जुड़ा। नाता जुड़ा तो बस फैशन, पैसा, स्टेट्स से। पूरी कहानी में हम संबंधों में आए परायेपन एवं बिखराव को भली भाँति देख पाते हैं। ‘सोने का चाकू’ में मीर साहब एक ऐसे चरित्र हैं जो मजदूरों का शोषण करते हैं। स्त्रियों को मरते दम तक हीन ही मानते हैं एवं उनपर अपना शासन चलाते हैं। जिन मजदूरों को वे शोषित करते हैं वे ही उन पर हमला कर उन्हें ज़ख्मी कर देते हैं। जब वे ज़ख्मी होते हैं तो उनके परिवार के सदस्य उन्हें लखनऊ नहीं ले जाना चाहते हैं। सभी यह सोचने लगते हैं कि मीर साहब अगर रास्ते में ही प्राण त्याग दें तो कहीं घर में व्याप्त कीमती सामानों पर दूसरे हक न जमा बैठे। किसी को इस बात की फिक्र नहीं होती कि जल्द इलाज न होने पर मीर साहब की जान चली जा सकती है। बल्कि सभी संपत्ति पर कब्जे की बातें सोचने लगते हैं। ‘अभिमन्यु की हत्या’ में हमें समाज की जटिल परिस्थितियों में जी रहे लोगों की मानसिकता का पता चलता है। शोषक वर्ग यह सोचता है कि शोषण करना उनका जन्मसिद्ध अधिकार है एवं शोषित वर्ग यह मानता है कि बार-बार पीड़ित, शोषित, अपमानित होना ही उनकी नियति है। अतः वे अपने मान-सम्मान, इज्जत की परवाह किये बगैर उसी ढर्रे में बह जाते हैं। जगोसरी के शब्दों में कहें तो ‘हँह असमत ही औरत का जेवर है।

हिफाजत करना धरम है। जेवर की हिफाजत अपने हाथ में है कहाँ? हम न भी चाहें तो जोर जुल्म से गहना तो लुटता ही है। कैलसिया सिरिफ जबरदस्ती, गैर-जबरदस्ती का बात है। गैर जबरदस्ती लुटाने में तनकी फायदा हो जाता है तो उसकी आदत पड़ गयी...” ‘खोया हुआ पुल’ कहानी में राम उमर नामक किशोर एक घर में बाल मजदूरी करता है। यदा-कदा उस पर एवं अन्य नौकरों पर अत्याचार होता है। राम उमर एक दिन जब इसका विरोध करता है तो काम से निकाल दिया जाता है। विनय जो कि राम उमर के गाँव का है, इसी घर में अप्सरा जी के लिए काम करता है। जब घर से एवं काम से राम उमर को निकाल दिया जाता है तो वह विनय भैया के पास शरण माँगने जाता है परन्तु विनय उसे शरण नहीं देता। विनय उसे शरण नहीं देता क्योंकि उसकी अपनी नौकरी जाने का डर है। केवल वैयक्तिक लाभ हेतु अन्याय का साथ देने वाले विनय जैसे पात्र समाज में अनेक हैं। ऐसे ही एक पात्र का दर्शन हमें ‘कुचक्र’ कहानी में होता है। विशंभर सेठ का लड़का एक मिठाई की दुकान में कालाजाम खाने का आर्डर देता है। बैरा पानी रखकर सामान लाने चला जाता है। सेठ के लड़के से पानी का गिलास टूट जाता है परन्तु वह इसका इल्जाम बैरे पर लगा देता है। बैरा इसका विरोध करता है। दुकान का मालिक सारी सच्चाई जानने के बावजूद बैरे की ही पिटाई करता है क्योंकि “हाथ न उठने पर हाथ खाली होने का डर था।” अर्थात् वैयक्तिक स्तर पर लाभ पाने हेतु मालिक पहले तो अन्याय होने देता है फिर बाद में स्वयं भी उसमें शरीक हो जाता है।

‘वजूद’ कहानी के पात्र रामबदल को जंगल की जड़ी-बूटियों की खास पहचान है। वह बैद्य केसरीनाथ के लिए काम करता है। बैद्य जी उसे जंगल में अक्सर जड़ी-बूटियाँ लाने भेजते हैं परन्तु यह नहीं चाहते कि रामबदल उन जड़ी-बूटियों का राज कभी जान पाए। इसके लिए उन्होंने रामबदल को चेतावनी भी दे रखी

है। अतः रामबदल इस तथ्य से भली भाँति अवगत है। एक दिन जब वह देखता है कि घर के पिछवाड़े कुछ पौधे उगे हैं तो वह घबरा जाता है एवं खुरपी से उनको उखाड़ फेंकता है। पत्नी द्वारा पूछे जाने पर कहता है “ये दवाईवाले पौधे हैं, बैद्यजी को पता चल जाता तो न मेरी गरदन बचती न तेरी...। दरअसल “बैद्यजी नहीं चाहते थे कि रामबदल के पास वे चमत्कारी वनस्पतियाँ हो जिनके बूते वे बैद्य बने थे। क्योंकि यदि वे रामबदल के अधिकार में होती तो एक दिन रामबदल भी कैद बन सकता था। जेठ महीने की प्रचण्ड गर्मी में रामबदल की पत्नी जानकी बीमार पड़ जाती है। बैद्य जी से दवाई माँगने पर वे मुफ्त की दवाई देने से सख्त मना कर देते हैं। रामबदल से पत्नी की हालत देखी नहीं जाती। अतः वह पुत्र को साथ लेकर जंगल की ओर निकल पड़ता है ताकि जानकी के लिए औषधि वाली जड़ी-बूटी ला पाए। जंगल में उसे जानकी के इलाज के लिए जड़ी-बूटी तो मिलती है परन्तु साथ में मिलती है एक खास महक। ऐसी महक जो उसकी जिन्दगी तबाह कर डालती है जब वह बैद्य जी के पास जाता है और बैद्य जी को आभास होता है कि वह महक रहा है तो वे आगबबूला हो उठते हैं। नीची जाती के एक व्यक्ति से आने वाली इस महक को वे बर्दाश्त नहीं कर पाते और कहते हैं “इस कुत्ते की औलाद में इतनी हिम्मत कि महकेगा” तत्पश्चात् उसकी इतनी पिटाई की जाती है कि वह बेचारा प्राण त्याग देता है। दूसरी तरफ उसकी पत्नी के भी प्राण पखेरू उड़ जाते हैं। माता-पिता की मौत के शोक को लिए संसार में अकेला रह जाता है पुत्र जयप्रकाश। जयप्रकाश बड़ा तो होता जाता है परन्तु पिता की मृत्यु का भयावह दृश्य एवं मृत्यु का कारण कभी भूल नहीं पाता। अतः किसी भी प्रकार की महक से सर्वदा दूर ही रहना चाहता है। परन्तु बेटी कटोरा की माँग उसे पुनः जंगल के करीब ले आती है। कटोरा एक दिन उसके बाबा को लगे महक की माँग कर बैठती है। इस जिद के आगे जयप्रकाश विवश हो जाता है। इसी

बीच होता यह है कि शहर से आए एक पत्रकार का गठिया, जो शहरी दवाओं से ठीक न हो पाया था, जय प्रकाश की जड़ी-बूटी से ठीक हो जाता है। इतना ही नहीं पत्रकार रवि कुमार की बेटी का दमा भी जयप्रकाश ठीक कर देता है। यहीं से एक नया प्रसंग शुरू हो जाता है। जयप्रकाश के इस कारनामे की खबर वह पत्रकार अखबार में चित्र सहित छाप देता है। इसे देख शहर की जानी-मानी कम्पनियाँ जयप्रकाश के वजूद को खरीदने उसके गाँव पहुँच जाती हैं—“सौदागरों में एक चाहता था कि जयप्रकाश उससे दस हजार महीने ले, बदले में उसके द्वारा रजिस्टर्ड मरीजों को दवा दे। शर्त यह थी कि जयप्रकाश अपने मन से किसी भी मरीज को कभी दवाई न देगा। इसी प्रकार भारत की आयुर्वेदिक दवाओं की एक पुरानी कम्पनी का एजेंट भी जयप्रकाश को एक प्रस्ताव देता है—“उसका प्रस्ताव था कि यदि वाकई दवाएँ कारगर हुईं तो उनकी वनस्पतियों की शिनाख्त कराने पर उसकी कम्पनी जयप्रकाश को ढाई लाख रुपए दे सकती थी।” इस प्रकार बाजार किसी भी तरीके से किसी भी कीमत पर जयप्रकाश के औषधि-ज्ञान का व्यावसायिक लाभ उठाना चाहता है। हालांकि जयप्रकाश अपना ज्ञान बेचना नहीं चाहता है। उसका मानना है कि दवाई का पैसा लेने से पाप लगता है परन्तु पत्नी अवश्य चाहती है कि वह समझौता करे। आधुनिक उपभोक्तावादी समाज की यह एक विडम्बना ही है कि यह प्रत्येक चीज का उपभोग करना चाहती है। कहानी में एक ओर पूँजीवादी शोषक वर्ग जयप्रकाश के पिता रामबदल के वजूद को महकने के कारण खत्म कर देता है वहीं दूसरी ओर यह उपभोक्तावादी समाज जयप्रकाश के वजूद को खरीद कर उसे अपने हित में अपने तरीके से इस्तेमाल करना चाहता है। अखिलेश की एक काफी चर्चित कहानी है। ‘यक्षगान’ इस कहानी की शुरुआत में ही लिखा है “यह एक काल्पनिक कथा है। इसके चरित्र, स्थान, घटनाएँ मंतव्य सभी कुछ काल्पनिक हैं। उनका वास्तविक जीवन से कोई भी

संबंध नहीं है। परन्तु वास्तविकता यह है कि यह कहानी समकालीन व्यवस्था की मूल्यहीनता एवं विद्रूपता को उद्घाटित करती है। अखिलेश जी स्वयं कहते हैं कि “मैं अपनी दो कहानियों का उदाहरण भी दे सकता हूँ, जैसे, ‘यक्षगान’ है और दूसरी ‘ग्रहण’ और भी कुछ कहानियाँ हैं जिन्हें हू-ब-हू मैंने समाज की वास्तविक घटनाओं से तैयार किया। कहानी की पात्र सरोज गाँव के आवारा लड़के छैल बिहारी से प्रेम कर बैठती है एवं शादी की सुंदर इच्छा लिए उसके संग गाँव से भाग जाती है। यहीं से शुरू हो जाती है उसके जीवन की दुःखद कहानी। छैलबिहारी उसे छलावा देकर भगा ले जाता है और उसका सौदा करता है। वह कई लोगों द्वारा दुष्कर्म का शिकार होती है। लगातार उसका शोषण होता है। राजनीति हेतु भी वह एक अच्छा मोहरा बन जाती है। मीरा यादव सरोज का पूरा फायदा उठाना चाहती है। उसके साथ हुए दुष्कर्म को वह एक बड़ा मुद्दा बनाकर विरोधी पार्टी के खिलाफ इस्तेमाल करती है। वह लोगों से कहती है “गोरखनाथ बलात्कारी है, उनको इस जघन्य कृत्य के लिए कड़ी से कड़ी सजा मिलनी चाहिए। उनकी इस करतूत पर उनकी पार्टी की खामोशी बताती है कि इस कांड में उसकी भी मिलीभगत है। मीरा यादव खुद एक स्त्री होकर भी दूसरे स्त्री की अगाध पीड़ा को समझ नहीं पाती है एवं सरोज का इस्तेमाल अपने राजनीतिक कैरियर को आगे बढ़ाने के लिए करती है। समाज की प्रत्येक व्यवस्था चाहे वह पुलिस हो, मीडिया हो, धर्म हो, न्यायपालिका हो, हर जगह सरोज शोषित ही होती है। इस शोषण का शिकार होने वाली एक इकलौती पात्र मात्र सरोज ही नहीं है, हमारे समाज में न जाने कितने ही सरोज अलग-अलग नामों के साथ आज उपस्थित हैं। ‘ग्रहण’ कहानी के माध्यम से अखिलेश मानव समाज पर लगे ग्रहण का खुलासा करते हैं। सूर्यग्रहण हो या चन्द्रग्रहण वह कुछ समय के लिए ही रहता है परन्तु मानवीय चेतना पर लगा ग्रहण वर्षों से चला आ रहा है और

आज भी बरकरार है। 'ग्रहण' कहानी के पात्र विपदराम और बटुली को कई मरी हुई संतानों के बाद एक पुत्र की प्राप्ति होती है। परन्तु दुःखद स्थिति यह होती है कि वह गुदाहीन होता है। जब विपदराम अपने पुत्र को इलाज के लिए पास के सरकारी अस्पताल में ले जाता है तो डॉक्टर पर्चे पर पुत्र का नाम राजकुमार लिख देता है। डॉक्टर मलत्याग करने के लिए अस्थायी रूप में पेट में एक सुराख कर देता है। डाक्टर यह भी बतला देता है कि जब बच्चा तीन साल का हो जाएगा तो एक बड़ा ऑपरेशन करना पड़ेगा। यहीं से शुरू हो जाती है अभागे बच्चे राजकुमार की किस्मत की कहानी। गाँव के पुरोहित जी की माने तो "यह बालक शाप का मारा है।" जिस बच्चे को विपदराम अवतारी बालक कह रहा था, उसे पुरोहित जी ने शाप का मारा ठहरा दिया। शाप का मारा न भी था तो किस्मत का मारा अवश्य ही था। उसके ऑपरेशन के लिए काफी पैसों की जरूरत थी एवं एक समय पर इतने पैसे इकट्ठा करना उनके लिए काफी कठिन था। समय अपनी गति से आगे बढ़ता जाता है एवं राजकुमार की पेट में बना अस्थायी मलद्वार ज्यों का त्यों बना ही रह जाता है। अपने बेटे के ऑपरेशन हेतु पैसा जुटाने के लिए विपदराम जी-तोड़ मेहनत करने लगता है परन्तु उसे केवल निराशा ही हाथ लगती है। इधर राजकुमार 'पेटहगना' नाम से जाना जाने लगता है। स्कूल में उसका दाखिला करवाया जाता है। परन्तु वहाँ भी उसे तिरस्कार एवं घृणा की दृष्टि से ही देखा जाता है और वह शोषण का शिकार होता है। अन्ततः राजकुमार पढ़ाई ही छोड़ देता है। भले ही राजकुमार हिंसा, शोषण से बचना चाहता था, पर समाज तो उसके जैसों का शोषण करती आयी है और उसका भी करनी चाहती थी। अतः कुछ ऐसा ही हुआ। पुरोहित, प्रधान, पुलिस प्रत्येक द्वारा वह शोषित होता गया। वह संघर्ष करना चाहता था और करता भी है परन्तु इस व्यवस्था में उसे किसी का भी साथ नहीं मिलता। अंत में हारकर

वह छल, बल और हिंसा का सहारा लेकर समाज के लोगों के समक्ष अपना अस्तित्व मिटा कर जीवन जीता है। यह विषमतामूलक व्यवस्था अब उसे पुण्य-आत्मा मान बैठती है—“राजकुमार वहाँ शुक्रवार को पीटा गया था और सोमवार को उसकी लाश आई थी। इन दोनों दिवसों पर वहाँ कीर्तन होने लगा जिसमें उसको घेरनेवाले और पीटनेवाले भी शामिल होने लगे। राजकुमार को हनुमान जी का बहुत बड़ा भक्त बताया गया।” यह एक विडम्बनात्मक स्थिति ही है कि जब तक राजकुमार समाज के बीच था तब तक हमेशा भर्त्सना, प्रताड़ना, शोषण का ही शिकार हुआ। हमेशा हेय दृष्टि से देखा गया। परन्तु उसी समाज को जब ऐसा लगता है कि वह मृत्यु को प्राप्त हो चुका है तो उसकी आत्मा एक पुण्य आत्मा बन जाती है और वह पूजा जाने लगता है। जिस पुरोहित जी ने कभी उसे शाप का मारा घोषित किया था, अब वही पुरोहित उसे भगवान सिद्ध करने के लिए कथाएँ सुनाने लगे हैं। उसकी समाधि भी स्थापित की गई हैं एवं लोग उस पर फूल चढ़ाया करते हैं। 'अँधेरा' साम्प्रदायिकता को केन्द्र में रखकर लिखी गई एक बेजोड़ कहानी है। कहानी मुख्यतः दो पात्र हैं—प्रेमरंजन एवं रेहाना। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है एक हिन्दू है एवं दूसरा मुस्लिम। दोनों एक साथ एक ही विश्वविद्यालय में पढ़ते हैं। प्रेमरंजन रेहाना की टिफिन बॉक्स से खाना नहीं खाता क्योंकि मुसलमान हिन्दुओं को अपना जूठा खाना ही खिलाते हैं। जब रेहाना को यह बात पता चलती है तो वह काफी दुःखी हो जाती है। यही वह बिन्दु है जहाँ से दोनों के बीच प्रेम-प्रसंग शुरू हो जाता है। बुद्धा पार्क में दोनों एक दिन मिलने का निर्णय लेते हैं। दुर्भाग्यवश उसी दिन शहर में साम्प्रदायिक दंगा शुरू हो जाता है। दंगे की दहशत को जानते हुए भी प्रेमरंजन पार्क में रेहाना के पास पहुँचना चाहता है क्योंकि उसके मन में रेहाना के प्रति अथाह प्रेम था। दोनों अपने प्राणों की रक्षा हेतु वहाँ से निकलना चाहते हैं। भागते हुए उनका सामना



एक साधु से होता है जो दंगाइयों के एक झुण्ड का नेतृत्व कर रहा था। धर्मांध साधु रेहाना से पूछताछ करता है एवं हिन्दू धर्म से जुड़े कई सवाल करता है। सभी सवालों का रेहाना बिल्कुल सही उत्तर देती है। प्रेमरंजन जो साधु के आने से डर गया था, रेहाना के उत्तरों को सुनकर काफी खुश हो जाता है। वह सोचता है विवाह के बाद की जिन्दगी को अपनाने के लिए रेहाना पहले से ही हिन्दू धर्म की बातें जान और समझ रही है। परन्तु रेहाना उसके अनुमान को गलत सिद्ध कर देती है और कहती है—“तुमसे मिलने के पहले ही मैं हिन्दू धर्म के बारे में थोड़ा-थोड़ा जानने लगी थी.. अब बेहतर जानकारी हो गई है...! मैं ही नहीं कई मुसलमान हिन्दुओं के बारे में जान रहे हैं।” अखिलेश अपने वास्तविक जीवन में इन बातों से होकर गुजरे थे। इसलिए ऐसे तथ्य इतनी प्रामाणिकता से वे कहानी में भी रख पाए। वे कहते भी हैं “मैंने एक दोस्त से उसकी पुस्तकों की दुकान पर पूछा कौन लोग हिन्दू धार्मिक किताबें ज्यादा खरीद रहे हैं तो पता चला मुस्लिम लोग भी काफी खरीद रहे हैं। चूंकि एक ऐसी क्राइसिस में टेनिंग का हिस्सा हैं। वे ही सिखाते हैं उन्हें माइथालॉजी के बारे में।” इसी प्रकार का एक दृश्य सामने आता है जब घबरायी रेहाना अपने रिश्तेदारों के घर फोन

मिलाती है। किसी भी मुस्लिम बस्ती में फोन लाइन नहीं मिलती लेकिन हिन्दू बस्ती में मिल जाती है। केवल मुस्लिम बस्ती की लाइनें ही काट दी गई थी। यह एक धिनौनी सच्चाई ही है कि सत्ता एवं व्यवस्था अपनी गद्दी, अपने पावर को बनाये रखने के लिए दंगा, हिंसा जैसी हो रही घटनाओं से भी लाभ पाना चाहते हैं एवं आग में घी डालने का काम करते हैं। साम्प्रदायिक हिंसा, लड़ाई या दंगा ये सभी समाज के विकास-पथ में बाधा डालते हैं। रेहाना के ही शब्दों में कहें तो “दंगे मुहब्बत की कब्रगाह होते हैं। वाकई इस कब्रगाह में सारी संवेदनाएँ सारी रागात्मकता दफन होकर रह जाती है। शेष रह जाता है तो केवल नकारात्मक भाव जो पूरे समाज को पतन की ओर धेकल देता है। इस प्रकार यह कहानी साम्प्रदायिक बर्बरता की नग्नता को सामने रखती है।

ऊपर चर्चित कहानियों में समकालीन समाज का यथार्थ पूरी प्रामाणिकता एवं विश्वसनीयता के साथ उभरकर सामने आता है। ऐसा इसलिए हो पाया है कि समय एवं समाज में हो रहे बदलावों एवं प्रक्रियाओं को अखिलेश ने स्वयं बड़ी बारीकी से जाना एवं अनुभव किया है। अतः उनकी कहानियाँ समकालीन जन-मानस के बीच की कहानियों के रूप में सामने आती है।

संपर्क : 7980179937



## उत्तर-आधुनिक प्रवृत्तियाँ एवं उदय प्रकाश का साहित्य

विकास साव

उत्तर-आधुनिक प्रवृत्तियाँ वर्तमान समय की एक ऐसी चुनौती है जिसमें सामाजिक परिस्थितियाँ और मानवीय व्यवहारों में बहुत परिवर्तन हुए हैं। “आधुनिकता की ही भाँति उत्तर-आधुनिकता पश्चिम के समाज दर्शन की एक ऐतिहासिक यात्रा है।” इस दर्शन की भावभूमि पाश्चात्य समाज (1970-75) की ओर से धीरे-धीरे बढ़कर भारतीय समाज में तैयार हुआ था। वास्तव में उत्तर-आधुनिकता एक ऐसी अवधारणा है जिसमें कुछ भी केन्द्रीय नहीं है, जिसका कैनवास बहुत ही बड़ा है। सच कहा जाए तो इस अवधारणा में कितने सिद्धान्त, विचारधाराएँ, प्रवृत्तियाँ, बौद्धिक अभिरुचियों का समावेशी रूप है जिसको सीमित शब्दों में परिभाषित नहीं किया जा सकता। बहरहाल, बीसवीं शताब्दी के अंतिम दो दशक पर नजर डाले तो देखेंगे कि कला, साहित्य, मीडिया, अर्थतन्त्र, मंडी, व्यवस्था, राजनीति, समाज, दर्शन, संस्कृति और लोकव्यवहार में जो अमूलचूक परिवर्तन हुए हैं उनके पीछे उत्तर-आधुनिकता की प्रवृत्तियाँ ही काम कर रही थी। वास्तव में उत्तर-आधुनिक प्रवृत्तियाँ पूंजीवादी व्यवस्था में पनपा, पोषित और विस्तारित हुआ एक ऐसा नींव है जिसपर जो महल तैयार किया जाएगा, वह “फैशन के नित्य परिवर्तित रूप, इलेक्ट्रिक मीडिया की शक्ति, विज्ञापन की विविधता, भूमंडलीकरण, नव उपनिवेशिकवादी चेतना मिलकर उत्तर-आधुनिकता के धरातल” पर वर्तमान समाज की रूप रेखा तैयार की जाएगी।

आज का समय वैश्विक संस्कृति और वैश्विक समाज का है। इस सामाजिक-संस्कृति में किसी भी देश का अपना मौलिक यथार्थ नहीं रह जाता है। वास्तव में मौलिकता का अखंड रूप अनेक अर्थ, अनेक विचार, अनेक सत्ता और अनेक पार्टियों में बदल गया है। मौलिकता न होने के कारण समाज का स्वरूप, विचार और दर्शन में एक संकीर्ण विभेद जैसा बन गया है। एक शब्द के अनेक अर्थ, अनेक चैनल, अनेक सत्ता केंद्र और अनेक पार्टियाँ बन गई हैं। उत्तर आधुनिकता के आधार तत्व में यही है कि वह हर हाल में किसी भी तत्व को एक केंद्रीय न रखकर उसका विकेंद्रीयकरण कर देना। आज मनुष्य विकेंद्रीयकृत समय में सबसे बड़ा संकट यथार्थ के मिथ्या प्रस्तुति से संक्रमित हो गया है जहां इंसान सिर्फ प्रायोजित है, वस्तु है, और कुछ नहीं। जहां न कोई मूल्य है, न आदर्श है और न ही सत्य है जिसको आधार बनाकर जीवन और संघर्ष से उत्पन्न समस्याओं को सुलझाया जा सके। वैश्विक समाज का एक अंतर्विरोध यह भी है कि वह एक समय में स्थानीयता का जामा पहनकर विश्व नागरिकता की पहचान में लिप्त है। यही कारण है कि यह समय एक तरफ भौतिकता के बाढ़ से ग्रसित होने के साथ साथ जातीय विद्वेष से भी अभिशप्त हैं। नतीजा, मनुष्य उत्तर मूल्यों से युक्त होने के बाद भी अपने पारंपरिक तथ्यों का मोह छोड़ नहीं पाता है। ऐसे समय में चर्चित कहानीकार उदय प्रकाश की कहानियाँ पाल गोमरा का स्कूटर, वारेन हेस्टिंग का साड़, तिरिछ, राम सजीवन की प्रेमकथा, और अंत में प्रार्थना. पीली छतरी वाली लड़की, मोहन दास इस दृष्टि में ज्यादा महत्वपूर्ण और प्रासंगिक हो जाता है।

आज हम जिस समय में जी रहे हैं जिसमें तीव्रता से बढ़ रहे वैश्विकता, तेजी से बदल रहे जीवन मूल्य. पाश्चात्य संस्कृति से लिप्त जीवन शैली का दायरा बढ़ रहा है। आज बाजार समाज के समवेशी

रूप के स्थान पर उसे तोड़ने के रूप में काम कर रहा है। वैश्विक संस्कृति और बाजार ने रिश्तों को वस्तु में तब्दील कर दिया है। “नाट एट आल!” कार्तिकेय ने जवाब दिया -दिस इज द एंड ऑफ द सिविल सोसायटी। अब कहीं कोई नागरिक समाज नहीं बचा, सिर्फ सरकारें हैं, कंपनियाँ हैं, संस्थाएँ हैं, माफिया और गिरोह हैं और अगर अब भी तुम किसी लेखक, कवि या विद्वान को हवाई जहाज में सवार होकर विदेश जाते देखते हो, तो जान लो, वह किसी कंपनी, किसी व्यापारी, किसी संस्था या गिरोह का सदस्य या दलाल है।” भूमंडलीकरण और नवउदारीकरण के कारण देश और विश्व में जिस भावभूमि का निर्माण हुआ है और विश्व बाजार का जो कॉन्सेप्ट बना है वह पूरी दुनिया को वस्तु में तब्दील कर दिया है। ऐसी परिस्थिति में युवावर्ग में एक वस्तुवादी चिंतनबोध पैदा हुआ है जो सीधा ग्लोबल बाजार की तरफ जाता है जो सिर्फ फैशन और उपभोग की भाषा को जानता है। मध्यवर्गीय समाज ने इस वैश्विक बाजार में अपने आपको ज्यादा ही तल्लीन किया है। आरामपरस्त और विलासितापूर्ण जिंदगी जीने वाले समाज की तरफ उदय प्रकाश इशारा करते हैं और कहते हैं कि बड़े-बड़े महानगरों में ही नहीं बल्कि छोटे-छोटे शहरों और कस्बों में भी ये आदतें फैल चुकी हैं जिन्हें किसी भी कीमत पर खत्म नहीं किया जा सकता -“यह वह उत्तर आधुनिक समय है जब छोटे-छोटे शहरों में ‘वैलेंटाइन डे’ मनाया जा रहा है और ‘न्यू ईयर ईव’ के लिए भुच्च पिछड़े कस्बों में भी टी.वी. विज्ञापनों की बदौलत केक, आर्चीज के कार्ड की बिक्री बढ़ गई है।” अब कोई नागरिक समाज नहीं और न ही उसकी स्थानीयता बची रही। ग्लोबल समाज और संस्कृति ने मानव को बाजार में लाकर खड़ा कर दिया है जहाँ सिर्फ कंपनियाँ हैं जो उपभोक्ता और मुनाफा को ज्यादा प्रथम दे रही हैं। जो तिकडमी साँठ-गाँठ करके लोगों को लूट रही है।

आज उत्तर-आधुनिक विचारों के केंद्र में बाजार

है। उदय प्रकाश की कहानियों में इस आधुनिक बाजार को बहुत ही यथार्थता के साथ प्रस्तुत किया गया है। आज जिस वैश्विक बाजार ने अपने बनाए मानदंडों के माध्यम से सारी संभावनाओं को सुगम बनाने का दावा किया था, जिस बुनियादी समस्याओं के समाधान का दावा किया गया था, वैसा कुछ भी नहीं हुआ है। आज आस्थाएँ, मान्यताएँ, विश्वास, प्रेम और उत्सवों के मायने बदल गए हैं। लोग अपना स्टेटस बनाए रखने के लिए सही और गलत में भेद तक नहीं करते। यही कारण है कि उदय प्रकाश ने बाजार का विरोध किया है क्योंकि बाजार ने समाज और उसकी सामाजिकता को पूरी तरह से तोड़ दिया है। किन्तु दा के माध्यम से उदय प्रकाश ने बाजार का भयंकर रूप प्रस्तुत किया है। “मैं बाजार का विरोधी नहीं हूँ लेकिन मार्केट कोई ‘कलेक्टिव ड्रीम’ नहीं है, यह कोई यूटोपिया नहीं है, इसमें कोई स्वप्न नहीं देखा जा सकता। इसमें ऐसा कुछ नहीं है, जो उदात्त, विराट और नैतिक हो, मुनाफा, नगदी, लाभ-घाटा...इसके सारे इन्ग्रिडिएंट्स घटिया, क्षुद्र और छोटे हैं। यह लालच, ठगी, होड़, स्वार्थ और लूट-खसोट के मनोविज्ञान से परिचालित होता है।” इस बाजार में सामाजिक-मानवीय मूल्यों की कोई कीमत नहीं है। भूमंडलीकरण, उदारीकरण, बाजारीकरण और उपभोक्तावादी नजरिए पर उदय प्रकाश अपनी विशिष्ट कहानी में अपनी दृष्टि प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि -“इससे ज्यादा मत खाओ, इससे ज्यादा मत कमाओ, इससे ज्यादा हिंसा मत करो, इससे ज्यादा संभोग मत करो, इससे ज्यादा मत सोओ, इससे ज्यादा मत नाचो ...वे सारे सिद्धांत जो धर्मग्रंथों में भी थे, समाज शास्त्र या विज्ञान अथवा राजनीतिक पुस्तकों में भी उन्हें कूड़ेदान में डाल दिया था। इस आदमी ने बीसवीं सदी के अंतिम दशकों में पूंजी, सत्ता और तकनीक की समूची ताकत को अपनी मुठियों में भरकर कहा था, स्वतंत्रता! चीखते हुए आजादी! अपनी सारी एषणाओं को जाग जाने दो। अपनी सारी इंद्रियों को इस पथी

पर खुल्ला चरने और विचरने दो। इस धरती पर जो कुछ भी है, तुम्हारे द्वारा भोगे जाने के लिए है, न कोई राष्ट्र है, न कोई देश, समूचा भूमंडल तुम्हारा है, न कुछ नैतिक है, न कुछ अनैतिक, न कुछ पाप है. न कुछ पण्य. खाओ, पीओ और मौज करो।”

उत्तर-आधुनिक और पूंजीवादी संस्कृति ने मनुष्य की तार्किक क्षमता को नष्ट किया है। दिमाग को अपने अनुरूप बनाया है। मध्यवर्गीय समाज इस षडयंत्र से ज्यादा प्रभावित हुआ है। उनकी सोचने-समझने की शक्ति को क्षीण किया है उसे ऐसी स्थिति में लाकर खड़ा कर दिया है जहां वह पूरी तरह से अकेलेपन का शिकार हो गया है। ऐसी स्थिति में उसका अकेलापन ही उसका संसार बन जाता है। उदयप्रकाश की कहानियों में ऐसे कई पात्रों का उल्लेख है जो इस व्यर्थता और अकेलेपन का शिकार होकर अपने को संक्रांस्त स्थिति में पाता है। ‘दत्तात्रेय के दुख’ कहानी संग्रह में ‘विनायक का अकेलापन’ कहानी इसका सफल उदाहरण है-“जो भी दुर्दिनों में घिरता है, दिल्ली उसे त्याग देती है। विनायक दत्तात्रेय भी दुर्दिनों में थे। दिल्ली ने उन्हें त्याग दिया था। न उनके पास कोई आता था, न कोई उनका हाल पूछता था। टेलीफोन कभी बजता नहीं था। वे अकेले रह गए थे। अकेलापन और दुर्दिन के दिन बिताने का तरीका विनायक दत्तात्रेय ने खोज निकाला था। वे अपने कमरे के एक कोने में जाकर खड़े हो जाते थे और पुकारकर पूछते-विनायक कैसे हो? फिर दूसरे कोने पर खड़े होकर मुस्कराते हुए कहते- मैं ठीक हूँ विनायक। अपनी सुनाओ। कभी-कभार आ जाया करो यार।” वास्तव में उदय प्रकाश ने अपनी कहानियों में समाज और देश में फैल रहे पूंजीवाद, उदारवाद, भूमंडलीकरण, उपभोक्तावादी संस्कृति का जिस तरह से चित्रण किया है वैसा चित्रण अन्य कथाकारों की रचनाओं में देखने को बहुत कम मिलता है। पूंजीवाद के देवताओं ने विलास के नाम पर ओछी पाश्चात्य संस्कृति को हमारे देश में फैलाया है और इसी

ओछी पाश्चात्य संस्कृति ने हमें उपभोक्तावादी गुलाम बना दिया है। इस उत्तर-आधुनिक पाश्चात्य संस्कृति ने हमारे अंदर की चेतना को पूरी तरह से हाइजैक कर लिया है। सच कहा जाए तो उत्तर आधुनिक प्रवृत्तियाँ अपने मूल तत्वों में संशयवाद और निषेधवाद को लेकर चलती है। जिस भावभूमि पर न ही कोई मूल्यगत वैचारिकी है और न कोई आदर्शवादी सोच। जिसके माध्यम से जीवन में उठ रही समस्याओं का समाधान ढूँढ सके।

उत्तर-आधुनिकता के गर्भ में पनपे इस निषेधात्मक स्वरूप पर आधारित बाजारवाद के नकारात्मक पहलुओं को उस समय के कई कहानीकारों ने बड़े अर्थपूर्ण ढंग से अपनी रचनाओं में दिखाने का प्रयास किया है। प्रसिद्ध कथा लेखिका मृदुला गर्ग ‘कलिकासत’ में पौराणिक पात्रों की मानसिकता को उत्तर आधुनिकतावादी विचारों के वातावरण में दिखाने का प्रयास किया है। पौराणिक पात्र भरत और उर्मिला आधुनिक पीढ़ी के वारिस के रूप में नजर आते हैं। इनमें पर्यावरण और संस्कृति की सुरक्षा के नाम पर जंगलों का अस्तित्व विहीन कर के गार्डन, पेप्सीफाउंटनों और रेस्टोरेंटों आदि का यथार्थ रूप सामने लाया है। पर्यावरण आज के संदर्भ में बाजार और विज्ञापन के साँसे बिकाऊ चीज के रूप में प्रस्तुत होते हैं। कथाकार सुरेन्द्र वर्मा, मनोहर श्याम जोशी बाजार ताकतों द्वारा स्त्री के पतन की कहानी को कहते हैं। वैश्वीकरण और उत्तर आधुनिकता ने स्त्री शोषण के नये आयाम को खोलकर एक नए परिभाषा के रूप में दिखाया है, मुनाफे का बाजार पुरानी रूढ़ियों को फिर से नए जमीन देकर हमारे समक्ष नए फारमेट में प्रस्तुत कर रहा है। इस उपभोक्तावादी समय में स्त्री सबसे बड़ा उपभोक्ता वर्ग और सामान बेचने में सहायक बन गई है। डॉ. शिवकुमार मिश्र ने अपने लेख ‘रमैया की दुलिन ने लूटा बाजार’ में इस सत्य को अभिव्यक्त करते हुए कहा है, ‘आज उत्पाद है. उपभोक्ता हैं. वस्तुएं हैं और वस्तुओं में बदलता

आदमी और उसकी आदमीयत है।...टी. वी. चैनलों पर चौबीस घंटे छाये रहने वाले विज्ञापनों पर एक निगाह डालिए दैहिक भौतिक सुख भोगवाद के साधनों का प्रचार करते बच्चे-बूढ़े, किशोर-जवान, स्त्री-पुरुषों की एक भीड़, उनके हाव-भाव, उनकी भाषा, उनका हर ढंग और ढब जो उनका नहीं, उनलोगों के द्वारा तय किया गया है जो उनका इस्तेमाल कर रहे हैं। उदय प्रकाश की कहानियों में ऐसी असंख्य घटनाएँ दर्शक को उस स्थान तक ले जाने का प्रयास करती हैं जहाँ मनुष्य की इच्छाएँ उपभोक्तावादी संस्कृति के दुष्परिणामों से ग्रसित होकर विभत्स रूप धारण कर लेती हैं। 'मैंगोसिल' कहानी में बिल्डर सेठ और दारोगा की हैवानियत उपभोक्ता संस्कृति का ऐसा ही नरभक्षी पिशाचीय रूप को प्रस्तुत करता है।

उत्तर आधुनिक समय ने मनुष्य को ज्यादा एम्बिशन युक्त बनाया है। महत्वाकांक्षी बनाने की तीव्र लालसा ने ही मनुष्य को ज्यादा परिवर्तनशील बनाया है। एम्बिशन या महत्वाकांक्षा ने मनुष्य को इतना वस्तुवादी बनाया है कि वह न केवल अपने पारंपरिक मानदंडों को ध्वस्त किया है बल्कि अपने ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को भी दरकिनारा कर दिया है। अंततः समाज में मनुष्य अवमूल्यन का वाहक बन गया। भूमंडलीकरण में यही अवमूल्यन हर क्षेत्र में अपने वैविध्य शक्ति में सामने आया है। जिसका प्रभाव तीव्रता से बदलते जीवन मूल्य, पाश्चात्य जीवन शैली और बाजार से युक्त समाज का तेजी से बढ़ता रूप है। आज बाजार ने मनुष्य के दिमाग में बसे हुए सामाजिकता और समावेशिकता को तोड़कर रख दिया है और साथ ही साथ वैश्विक संस्कृति और बाजार ने रिश्तों को मशीनी देह में तब्दील कर दिया है। इस संबंध में उदय प्रकाश 'पाल गोमरा का स्कूटर' में कहते हैं कि "बाजार अब सभी चीजों का विकल्प बन चुका था। शहर, गाँव, कस्बे बड़ी तेजी से बाजार में बदल रहे हैं। हर घर दकान में तब्दील हो रहा है। बाप अपने बेटे को

इसीलिए घर से निकालकर भगा रहा था, कि वह बाजार में फिट नहीं बैठ रहा था। पत्नियाँ अपने पतियों को छोड़-छोड़ कर भाग रही थीं क्योंकि बाजार में उनके पतियों की कोई खास माँग नहीं थी। औरत बिकाऊ और मर्द कमाऊ का महान चकाचक युग आ गया था।" औरत बिकाऊ और मर्द कमाऊ के युग में इंसानियत, मानवता और प्रेम का कोई महत्व नहीं रह गया था। इस समय में स्त्री-पुरुष का संबंध एक कोमर्सीलाइजेशन का शिकार हो गया है। ऐसी कोमर्सीलाइजेशन उपभोक्तावादी संस्कृति का विकास हो रहा था जिसमें पैसा ही सबकुछ है।

उत्तर आधुनिकता अपनी सृजनात्मक भूमि में स्त्री विमर्श और दलित विमर्श को नए फारमेट में दिखाने का प्रयास किया है। आज हमारे इर्द-गिर्द परिवर्तन की रफ्तार इतनी तेज हो गई है कि हम चाहकर भी अपने को स्थिर नहीं कर पा रहे हैं। आज उपभोक्तावादी संस्कृति में पल रहे बाजार इस स्थिति को एक व्यापक रूप दे रहा है। आज बाजार इसी परिवर्तित हो रही दुनिया को अपने फायदे के लिये भुना रहा है। समसामयिक घटनाओं पर नजर डाले तो पाएंगे कि बाजार की इस मायावी दुनिया ने किशनगंज के एक सफाई कर्मचारी की बेटी सुनीला और छपरा की प्राइमरी स्कूल की टीचर आशा मिश्रा जैसी लड़कियों को अपनी जाल में फँसा लेते हैं। विज्ञापन एजेंसियाँ उनके देह का बाजारीकरण कर लोगों की कामुकता को बढ़ावा देती हैं। उदयप्रकाश कहते हैं- "सुनीला रातोंरात मालामाल हो गई थी। टी. वी. के विज्ञापन में वह आठ फुट बाई चार फुट साइज के विशाल ब्लेड के मॉडल पर नंगी सो गई थी। सुनीला को अपने चेहरे पर उस ब्रांड के ब्लेड से होने वाली सेविंग चिड़ियों के पर के स्पर्श से उपजने वाले सुख और आनंदातिरेक को दस सेकंड के भीतर व्यक्त करना था।" इन विषयों पर मीडिया भी पीछे नहीं है। टीवी और प्रिंट मीडिया पर प्रकाशित होने वाले विज्ञापनों में नारी देह को अधिक स्थान दे रखा

है। भूमंडलीकरण के इस दौर में आजीविकीवाद ने स्त्री को एक तरफ रोजगार का रास्ता दिखाया है और यह भ्रम भी फैलाया है कि स्त्रियाँ समाज के पुरुष वर्ग के साथ कंधे से कंधा मिलाकर चलने लायक हो गई हैं। पर सच कुछ और ही है। वास्तविकता यह है कि स्त्री को आर्थिक आत्मनिर्भरता के स्थान पर परिवार और पुरुष समाज की जकड़न मानसिकता मिली है।

उदय प्रकाश द्वारा रचित कहानी 'पीली छतरी वाली लड़की' में दलित आक्रोश का जमीनी रूप दिखाकर ब्राह्मणवाद से सीधे-सीधे लोहा लेने वाली रचना के रूप में प्रस्तुत किया है। यह ब्राह्मणवाद की संगठित फासीवादी विचारधारा के अतिवादी रूप का विरोध ही नहीं किया है बल्कि उससे हुए समस्याओं का समाधान ढूँढने की कोशिश भी है। भारत में जातिवाद की समस्या की जड़ों तक जाने पर यह पता चलता है कि ब्राह्मणवाद ने ही जाति व्यवस्था की स्थापना की और अपने अनुरूप इसे संचालित करने के सारे हथकंडे अपनाए हैं। इस संरचना में उन्होंने स्वयं को श्रेष्ठ और दूसरी जातियों को नीच दिखाने की हरदम कोशिश की है। उन्होंने जाति के अतिरिक्त कुल एवं गोत्र नामक दो भेद और उत्पन्न किए। जिसके मायाजाल और भ्रमजाल में फँसकर दलित उससे उबर न पाये और हीनताबोध का शिकार बना रहे। कान्यकुब्ज ब्राह्मणों को हल की मूठ छूने की मनाही थी। ऐसे ही तमाम मिथक ब्राह्मण जाति में प्रचलित रहे हैं। डॉ. भीमराव अंबेडकर ने ब्राह्मणवाद पर चोट करते हुए कहा है-“ब्राह्मणों की मूलभूत चिंता गैर-ब्राह्मणों से निहित हितों की रक्षा करना है।” केवल अपने हितों की रक्षा करने वाला किसी देश का वर्ग उस देश की संरचना को न केवल कमजोर करता है बल्कि द्वेष को भी जन्म देता है। इस तरह की जाति आधारित सामाजिक-संरचना से न कोई स्वस्थ समाज बन सकता है और न ही कोई राष्ट्र।

उत्तर आधुनिकता प्रवृत्तियों पर विचार करें तो पाएंगे कि उत्तर-आधुनिक परिस्थितियों के दबाव में

कहानी के फोरमेशन और उसकी संरचना को काफी प्रभावित किया है। कहानी के कथानक में एक विस्तारपन आया है या यूँ कहे तो कहानी के आकार में विशालता और औपन्यासिक स्वरूप ने ग्रहण कर लिया है। समय के साथ बदलते यथार्थ को इस समय के कहानिकारों ने अपने अनुभव और निजता को अभिव्यक्त करने के लिए फैंटेसी, रूपक, प्रतीक और जादुई यथार्थ का सहारा लिया है। लिखने की शैली में सारे टूल्स का एक मायने में प्रयुक्त हुआ है। जादुई यथार्थ में आख्यानों से भी प्रचलित यथार्थ का चित्रण भी बहुत अच्छी तरीके से हुआ है। उदय प्रकाश की 'पीली छतरी वाली लड़की', 'वारेन हेस्टिंग्स का सांड', 'मोहनदास', 'और अंत में प्रार्थना', 'पाल गोमरा का स्कूटर' इसके सफल उदाहरण हैं। ऐतिहासिक एवं आख्यान परक तथ्यों का प्रयोग उदय प्रकाश कुछ इस तरह से करते हैं। जिसमें किस्सागोई का कटौत ज्यादा आकर्षक हो जाता है। 'दिल्ली की दीवार' से एक उदाहरण इस प्रकार है- “कहते हैं अंग्रेजों के जमाने में जब जार्ज पंचम या चार्ल्स, पता नहीं दोनों में से कौन, हिंदुस्तान आए थे, तो यहीं के देशी रियासतों के राजा-रजवाड़ों के कैप इसी जगह पर लगे थे। वे विलायत के अपने सम्राट का स्वागत करने यहाँ इकट्ठा हुए थे। कहते हैं कि वह स्वागत कुछ-कुछ वैसा ही था, जैसा अभी कुछ साल पहले अमेरिका के प्रेसिडेंट बिल क्लिंटन का स्वागत था। इसी जगह पर देशी रियासतों के राजा-रजवाड़ों ने अपने अंग्रेज सम्राट का राज्याभिषेक किया था, जिसे अंग्रेजी में 'कोरोनेशन' कहते हैं और विलायती सम्राट ने यहाँ जो भाषण दिया था, उनके जाने के बाद उसे राष्ट्रीय अभिलेखागार में रख दिया गया था। भाषण की उस प्रति को हिंदुस्तान के इतिहास का एक अहम दस्तावेज माना जाता है।” बतकही शैली में प्रस्तुत किए जाने वाले ये ब्यौरे कहानी की रोचकता में इजाफा तो करते ही हैं साथ ही पाठक को मूल कहानी के प्रति अधिक संवेदनशील और सजग बनाते हैं। उसमें



इतिहासबोध पैदा होता है और वह वर्तमान को अतीत से प्रभावित होते हुए देख पाता है। इतिहास बोध और किस्सागोई से युक्त उनकी उत्कृष्ट रचना 'मोहनदास' का एक उदाहरण लिया जा सकता है। जो उदय प्रकाश की असाधारण और विलक्षण लेखनी का प्रमाण है- "ध्यान दीजिए यह ब्यौरा उसी समय का है जब हिंदुओं का जगद्गुरु अपने मठ में बैठा हुआ, एक स्त्री के साथ वही सब कुछ कर रहा था, जो हजारों किलोमीटर दूर, कई समुद्र पार, व्हाइट हाउस की कुर्सी पर बैठा अमेरिका का राष्ट्रपति कर रहा था। जब दजला और फरात नदी के पास किसी गड्ढे में अपनी जान बचाने के लिए छिपे हुए गिलगमेश के एक वंशज को पुराने समुद्री डाकुओं के वंशज बाहर खींचकर उसके दाँत गिन रहे थे। ऐसा समय, जिसमें जिसके पास जितनी मात्रा में सत्ता थी, वह विलोमानुपात के नियम से, उतना ही अधिक निरंकुश, हिंस्र, बर्बर, अनैतिक और शैतान हो चुका था. ...और यह बात राष्ट्रों, राजनीतिक दलों, जातियों, धार्मिक समुदायों और व्यक्तियों तक एक जैसी लागू होती थी।" उत्तर-आधुनिकता के प्रभाव के कारण ऐसे तमाम आख्यान और ब्यौरे उदय प्रकाश की कहानियों में देखने को मिलते हैं। उत्तर-आधुनिकता के सभी पहलु उनके कथा-साहित्य में मौजूद हैं।

जादुई यथार्थवाद को लेकर उदय प्रकाश पर खूब बहस हुई है। जादुई यथार्थवाद को लेकर जिन प्रमुख कहानियों पर बात होती है वह हैं, 'तिरिछ', 'टेपचू', और 'हीरालाल का भूत'। कुछ आलोचक यह भी कहते हैं कि यथार्थवाद का यह जादुई रूप उदय प्रकाश ने 'मार्केज' से ग्रहण किया है। "जादुई यथार्थवाद एक परागामी शैली हैय यह ठीक है किन्तु इसका आधार वास्तविक यथार्थ ही होता है। जादुई यथार्थवाद वास्तविक यथार्थ से परे जाने या कि उसका अतिक्रमण किए जाने की प्रक्रिया के तहत ही ईजाद हुआ था।...हिन्दी तथा विश्व-साहित्य के एक विज्ञ व तर्कशील पाठक अरुण माहेश्वरी की इस बात से असहमत होने का कोई

कारण हमें नहीं दिखता- 'लैटिन अमेरिकी जादुई यथार्थवाद की सारी शक्ति आदमी के भौतिक जगत और आत्मिक जगत-दोनों के ही विस्मयों के द्वंद्वात्मक सह-अस्तित्व को तलवार की धार पर चलने के संतुलन और रोमांच के साथ व्यक्त करने में निहित रही है। गोबर युग से लेकर रॉकेट युग, इलेक्ट्रानिक युग तक के यथार्थ के संश्लिष्ट जीवन को व्यक्त करने की जिस शक्ति का परिचय मार्क्वेज ने दिया है, वह शैली तीसरी दुनिया के सारे देशों के यथार्थ की अभिव्यक्ति के लिये कारगर हो सकती है।" 'मार्केज' से प्रभावित होने के कारण उदय प्रकाश की रचनाओं में जादुई यथार्थवाद आ गया है यह कहना अनुचित है। भारतीय समाज में ऐसे मिथक बहुत हैं जो जादुई यथार्थवाद जैसे ही हैं। जैसे गाँवों में किसी व्यक्ति की मृत्यु होने पर वर्षा होना, किसी के मरने से पहले बिल्ली और कुत्तों का रोना आदि आदि। और यदि इसे जादुई यथार्थवाद मान लिया जाए तो परंपरागत भारतीय कथा-साहित्य जादुई यथार्थवाद का खजाना है। 'हीरालाल का भूत' में जो जादुई यथार्थवाद आया है वह उसी गाँवई परिवेश के मिथकों पर आधारित है। वहाँ ठाकुर हरपाल सिंह के घर में जो घटित हो रहा है वह उसकी अपराधबोधग्रस्त मानसिकता के कारण है।" इतना ही नहीं, कभी-कभी ठाकुर हरपालसिंह संडासघर में टट्टी करने जाते तो बाहर से कोई साँकल चढ़ा जाता और उन्हें देर तक उसमें बंद होकर आवाजें लगानी पड़तीं। एक रात तो गजब ही हो गया। सरला बेबी को लगा कि रात में कोई उनकी छाती पर चढ़ गया और ऐसी-वैसी जगह हाथ डालने लगा। उन्होंने उठना चाहा, बोलना चाहा, चीखना चाहा, लेकिन सब बेकार। शरीर का कोई भी हिस्सा उनका साथ नहीं दे रहा था। सब सुन्न हो गया था। रात ज्यादा भी नहीं हुई थी। किसी ने अचानक उसके ट्रांजिस्टर की आवाज खूब ऊँची कर दी और इसके बाद सुबह उन्हें होश आया तो उनके शरीर पर एक भी कपड़ा नहीं था और रात में उनके साथ जोर-जबर्दस्ती कर डाली गयी थी।"



उदय प्रकाश का साहित्य अस्तित्वगत संघर्ष और प्रतिरोध की क्षमता को उजागर करता है। इसलिए उनके साहित्य में जो वैचारिक प्रवाह है उसमें एक तरफ का पैनापन है। उदाहरणस्वरूप-“यही वह आदमी है, जिसके लिए संसार भर की औरतों के कपड़े उतारे जा रहे हैं। तमाम शहरों के पार्लर में स्त्रियों को लिटाकर उनकी त्वचा से मोम के द्वारा या एलेक्ट्रोलिसिस के जरिये रोएँ उखाड़े जा रहे हैं, जैसे पिछले समय में गड़रिये भेड़ों की खाल से ऊन उतारा करते थे। राहुल को साफ दिखाई देता कि तमाम शहरों और कस्बों के मध्य-निम्न मध्यवर्गीय घरों से निकल-निकल कर लड़कियाँ उन शहरों में कुकुरमुत्तों की तरह जगह-जगह उगी ब्यूटी-पार्लर में मेमनों की तरह झुंड बनाकर घुसतीं और फिर चिकनी-चुपड़ी होकर उस आदमी की तोंद पर अपनी टाँगें छितरा कर बैठ जातीं। इन लड़कियों को टीवी ‘बोल्ड एंड ब्यूटीफुल’ कहता और वह लुजलुजा-सा तुंदियल बूढ़ा खुद ‘रिच एंड फेमस’ था।” उत्तर आधुनिक परिवेश में यही रिच और फेमस ने समाज और देश की संरचना को पूरी तरह से बदल दिया है। समाज और देश की स्थिति दिनों-दिन बद से बदतर हो गई है। उदय प्रकाश समाज के हालात पर पैनी नजर रखे हुए कहते हैं-“उस ताकतवर भोगी लोंदे ने एक नया सिद्धांत दिया था जिसे भारत के वित्तमंत्री ने मान लिया था और खुद उसकी नस में जाकर घुस गया था। वह सिद्धांत यह था कि उस आदमी को खाने से मत रोको। खाते-खाते जैसे-जैसे उसका पेट भरने लगेगा, वह जूठन अपनी प्लेट के बाहर गिराने लगेगा। उसे करोड़ों भूखे लोग खा सकते हैं। कांटीनेंटल, पौष्टिक जूठन। उस आदमी को संभोग करने से मत रोको। वियाग्रा खा-खाकर वह संभोग करते-करते लड़कियों को अपने बेड के नीचे गिराने लगेगा। तब करोड़ों वंचित देशी छड़े उन लड़कियों को प्यार कर सकते हैं, उनसे अपना घर-परिवार बसा सकते हैं। यही वह सिद्धांत था, जिसे

उस आदमी ने दुनिया भर के सूचना संजाल के द्वारा चारों ओर फैला दिया था और देखते-देखते मानव सभ्यता बदल गई थी। सारे टी. वी. चैनलों, सारे कंप्यूटरों में यह सिद्धांत बज रहा था, प्रसारित हो रहा था।”

हिंदी कथा साहित्य में उदय प्रकाश एक ऐसे कथाकार हैं जिन्होंने अपनी कहानियों के माध्यम से समाज की पूरी तस्वीर खींच ली है। उत्तर-आधुनिकता, भूमंडलीकरण, परिवर्तन के नाम पर निर्मित विकास के नाम पर तमाम अवधारणाओं ने हमारे समाज एवं देश में जिस तरह से उपभोक्तावादी संस्कृति को जन्म दिया है। उदयप्रकाश का कथा साहित्य समय और समाज में पल रहे इस संक्रमण के साथ दो दो हाथ करते नजर आते हैं। भूमंडलीकरण और उदारीकरण के नाम पर पूंजीवाद ने जिस तरह से ओछी पाश्चात्य संस्कृति और उपभोक्तावादी संस्कृति को हमारे समाज में फैलाया है और व्यक्ति की सामाजिकता और स्थानीयता को प्रभावित किया है एवं व्यक्ति के साथ भारतीय परिवार, समाज, हमारी सभ्यता एवं संस्कृति को भी पूरी तरह प्रभावित किया है। उदयप्रकाश अपनी कहानियों में यथार्थता के साथ अपनी बातों में उपभोक्तावादी संस्कृति के द्वारा हमारी भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति को तहस-नहस कर रहे सारे तिकड़मी तथ्यों को पाठक के सामने रख दिया है। वास्तव में उदय प्रकाश की अधिकांश कहानियाँ उपभोक्तावादी संस्कृति के साइड इफेक्ट से प्रभावित हैं। ‘तिरिछ’, ‘और अंत में प्रार्थना’, ‘पॉल गोमरा का स्कूटर’, ‘पीली छतरी वाली लड़की’, ‘दत्तात्रेय के दुःख’, ‘वारेन हेस्टिंग्स का सांड’ आदि ऐसी अनेक कहानियाँ हैं जिनमें उदय प्रकाश ने उपभोक्तावादी संस्कृति और इस उपभोक्तावादी संस्कृति के दुष्परिणाम पर विस्तार से प्रकाश डाला है। सच कहा जाये तो उपभोक्तावादी संस्कृति और उसके दुष्परिणामों पर लिखने वाले बहुत कम लेखकों में उदय प्रकाश एक हैं।

## केंद्रीय हिन्दी संस्थान आगरा का विदेशी छात्रों का दीक्षांत समारोह संपन्न

केंद्रीय हिन्दी संस्थान आगरा, प्रत्येक वर्ष विदेशी छात्र-छात्राओं को चार प्रकार के पाठ्यक्रमों से हिंदी शिक्षण का पाठ्यक्रम चलाता है। इस वर्ष (2017-2018) के सत्र में 27 देशों के 83 छात्र-छात्राओं (महिला-60 तथा पुरुष-23) ने विभिन्न पाठ्यक्रमों में हिंदी भाषा का शिक्षण प्राप्त किया और उनके परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर 30 अप्रैल, 2019 को संस्थान के सभागार में उपाधि-वितरण के लिए दीक्षांत समारोह आयोजित किया गया। इस दीक्षांत समारोह के मुख्य-अतिथि 'केंद्रीय हिंदी शिक्षण मंडल' के उपाध्यक्ष डॉ. किशोर गोयनका थे। डॉ. गोयनका ने कहा कि 27 देशों के छात्रों का यह ज्ञान-कुंभ है और हिंदी भाषा राष्ट्रीय एकता की सूत्र है। हमें आशा है कि ये छात्र अपने-अपने देशों को लौटकर हिंदी भाषा के अपने ज्ञान को विकसित करते रहेंगे और भारत की संस्कृति से अपना तथा अपने देशवासियों का प्रेम बनाये रखेंगे। कार्यक्रम में प्रो. रामवीर सिंह, प्रो. बीना शर्मा, प्रो. गंगाधर वानोडे आदि ने भी अपने विचार प्रकट किये।

प्रस्तति - कृष्णा कुमार, उपाध्यक्ष के निजी सहायक

## नीलाम्बर द्वारा रायपुर में आयोजित 'रंगविनोद' कार्यक्रम

हिंदी के वरिष्ठ रचनाकार विनोद कुमार शुक्ल अपनी तरह के अनूठे कवि-कथाकार हैं। मौलिक रचनाशीलता के अन्यतम उदाहरण के रूप में हिंदी साहित्य में उन्हें याद किया जाता है। अपने इस वरिष्ठ रचनाकार के सम्मान में गत 21 अप्रैल को कोलकाता की साहित्यिक-सांस्कृतिक संस्था नीलांबर कोलकाता ने रायपुर में छत्तीसगढ़ फिल्म एंड विजुअल आर्ट सोसायटी के सहयोग से 'रंग विनोद' कार्यक्रम प्रस्तुत किया। समचा कार्यक्रम क्रमशः व्याख्यान सत्र और सम्मान सत्र के रूप में दो हिस्सों में प्रस्तुत किया गया।

व्याख्यान सत्र की अध्यक्षता करते हुए वरिष्ठ कवि अशोक वाजपेयी ने हिंदी कविता की परंपरा में विनोद कुमार शुक्ल की जगह तलाशते हुए कहा कि वे गोत्रहीन और वंशहीन कवि हैं। साहित्य में उनका कोई पूर्वज नहीं है। वे अतियथार्थ के कवि हैं। बसंत त्रिपाठी ने विनोद कुमार शुक्ल के साहित्य के जादई असर पर प्रकाश डालते हुए कहा कि उनके उपन्यासों में अविश्वसनीय चित्र हैं, जो विमुग्धकारी हैं।

कार्यक्रम का दूसरा हिस्सा सम्मान सत्र का था। विनोद कुमार शुक्ल की कविता 'हताश से एक व्यक्ति बैठ गया था' पर आधारित नीलांबर द्वारा निर्मित वीडियो के प्रदर्शन से सम्मान सत्र की शुरुआत हुई। नीलांबर की टीम ने उनके साहित्य के हिस्सों को लेकर बने कोलाज की प्रस्तुति की। कार्यक्रम में ऋतेश पांडेय निर्देशित 'गोष्ठी' फिल्म प्रदर्शित की गई। यह फिल्म विनोद कुमार शुक्ल की 'गोष्ठी' कहानी पर बनाई गई है। ऋतेश पांडेय, यतीश कुमार, विमलेश त्रिपाठी, स्मिता गोयल, विशाल पांडेय और दीपक कुमार ठाकुर ने इस फिल्म में मुख्य भूमिका निभाई है। विमलेश त्रिपाठी ने विनोद कुमार शुक्ल के लिए लिखी कविता सुनाई। कार्यक्रम के अंत में उनके रचनाकर्म के सहायत्री रहे नरेश सक्सेना के हाथों मानपत्र और अशोक वाजपेयी के हाथों स्मृति चिह्न देकर विनोद कुमार शुक्ल को सम्मानित किया गया।

प्रस्तति-आनंद गप्ता

## मुक्तांचल-21 स्त्री कलम प्रतिरोध की संस्कृति

मुक्तांचल-21 स्त्री कलम केंद्रित अंक का लोकार्पण एवं प्रकाशन पर्व पर एक विचार गोष्ठी एवं कवि सम्मेलन का आयोजन 1 मार्च 2019 को विद्यार्थी मंच द्वारा आयोजित किया गया। विचार गोष्ठी का विषय 'स्त्री कलम : प्रतिरोध की संस्कृति' था। इस आयोजन में विशिष्ट अतिथि वक्ता के रूप में प्राकृतन हिन्दी विभागाध्यक्ष हैदराबाद सेन्ट्रल यूनिवर्सिटी डॉ. प्रो. शशी मुदीराज उपस्थित थी मुक्तांचल के स्त्री कलम केन्द्रीत अंक की अतिथि संपादक डॉ. सुनीता गुप्ता ने विषय पर अपना विस्तृत विचार रखा विश्व भारती शांति निकेतन से प्रो. मंजू रानी सिंह एवं कलकत्ता गर्ल्स कॉलेज की प्राचार्य डॉ. सत्या उपाध्याय ने भी अपने विचार रखे। डॉ. प्रो. चंद्रकला पाण्डे ने इस गोष्ठी की अध्यक्षता की संचालन शुभ्रा उपाध्याय ने किया। दूसरे सत्र में काव्य गोष्ठी का आयोजन था। शहर के समस्त विशिष्ट कवियों ने इसमें बढ-चढकर हिस्सा लिया कार्यक्रम के अंत में धन्यवाद ज्ञापन विवेक लाल ने किया।

प्रस्तति : विनीता सिंह

## श्रद्धांजली सभा : रमणिका गुप्ता(22 अप्रैल 1929-26 मार्च 2019)

'युद्धरत' आम आदमी की संपादक एवं विशिष्ट कवि एवं लेखक रमणिका गुप्ता के पुण्य प्रयाण पर विद्यार्थी मंच एवं मुक्तांचल के संयुक्त तत्वाध्यान में 31 मार्च 2019 को एक श्रद्धांजली सभा का आयोजन किया गया। इस सभा में विशिष्ट वक्ता के रूप में उपस्थित थे डॉ. प्रो. अरुण कुमार(रांची विश्वविद्यालय), मुक्तांचल की संपादक मीरा सिन्हा ने रमणिका जी की विशिष्टता पर अपना वक्तव्य रखा। उनकी शेष कविताएं मुक्तांचल-21 सरगम के सुर साधे स्तम्भ में प्रकाशित हुई थी जिनका सास्वर वाचन सुधा शर्मा ने किया। इस सभा में कोलकाता की अध्यापक. प्रध्यापक. शोधार्थी एवं विद्यार्थी बड़ी संख्या में उपस्थिति थे।

प्रस्तति : सशील पाण्डेय

**केंद्रीय हिंदी संस्थान**  
**मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार**

**संपर्क :** हिंदी संस्थान मार्ग, आगरा-282005. फोन : 0562-2530684. वेबसाइट : www.hindisansthan.org, www.khsindia.org

**संक्षिप्त परिचय**

केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार के शिक्षा विभाग द्वारा 1961 ई. में स्थापित एक स्वायत्त शैक्षिक संस्था है। इसका संचालन स्वायत्त संगठन केंद्रीय हिंदी शिक्षण मंडल द्वारा किया जाता है। संस्थान का मुख्यालय आगरा में स्थित है और इसके आठ क्षेत्रीय केंद्र : दिल्ली, हैदराबाद, ग्वाहाटी, शिलांग, मैसूर, दीमापुर, भवनेश्वर तथा अहमदाबाद में हैं।

**संस्था के प्रमुख उद्देश्य-**

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 351 के अनुपालन में अखिल भारतीय भाषा के रूप में हिंदी का विकास करते हुए इसके विकास और प्रसार की दृष्टि से उपयोगी शैक्षणिक पाठ्यक्रमों की प्रस्तुति एवं संचालन, विभिन्न स्तरों पर गुणवत्तापूर्ण हिंदी शिक्षण का प्रसार, हिंदी शिक्षकों का प्रशिक्षण, हिंदी भाषा और साहित्य के उच्चतर अध्ययन का प्रबंधन, हिंदी के साथ विभिन्न भारतीय भाषाओं के तुलनात्मक भाषा वैज्ञानिक अध्ययन को प्रोत्साहन और हिंदी भाषा एवं शिक्षण से जुड़े विविध अनुसंधान कार्यों का आयोजन अपने विभिन्न पाठ्यक्रमों में अध्ययनरत विद्यार्थियों के लिए परीक्षा आयोजन तथा उपाधि वितरण संस्थान की प्रकृति एवं उद्देश्यों के अनुरूप उन अन्य संस्थाओं के साथ जुड़ना या सदस्यता ग्रहण करना या सहयोग करना या सम्मिलित होना, जिनके उद्देश्य संस्थान के उद्देश्यों से मिलते-जुलते हों और इन समान उद्देश्यों वाले संस्थानों को संबद्धता प्रदान करना समय-समय पर नियमानुसार अध्येतावृत्ति (फेलोशिप), छात्रवृत्ति और परस्कार, सम्मान पदक की स्थापना कर हिंदी से संबंधित कार्यों को प्रोत्साहन आदि।

**संस्थान के कार्य-**

**शिक्षणपरक कार्यक्रम :** (i) विदेशी विद्यार्थियों के लिए हिंदी शिक्षण, (ii) हिंदीतर राज्य के विद्यार्थियों के लिए अध्यापक प्रशिक्षण पाठ्यक्रम, (iii) नवीकरण एवं संवर्द्धनात्मक कार्यक्रम (iv) दूरस्थ शिक्षण कार्यक्रम (स्ववित्तपोषित), (v) जनसंचार एवं पत्रकारिता, अनवाद अध्ययन और अनप्रायक्त हिंदी भाषाविज्ञान के सांघ्यकालीन पाठ्यक्रम (स्ववित्तपोषित)

**अनुसंधानपरक कार्यक्रम :** (i) हिंदी शिक्षण की अधुनातन प्रविधियों के विकास के लिए शोध, (ii) हिंदी भाषा और अन्य भाषाओं का तुलनात्मक व्यतिरेकी अध्ययन, (iii) हिंदी भाषा और साहित्य के क्षेत्र में आधारभूत एवं अनुप्रयुक्त अनुसंधान, (iv) हिंदी भाषा के आधुनिकीकरण और भाषा प्रौद्योगिकी के विकास के उद्देश्य से अनुसंधान, (v) हिंदी का समाज भाषा वैज्ञानिक सर्वेक्षण और अध्ययन, (vi) प्रयोजनमूलक हिंदी से संबंधित शोधकार्य। अनुसंधानपरक कार्यों के दौरान द्वितीय भाषा एवं विदेशी भाषा के रूप में हिंदी शिक्षण के लिए उपयोगी शिक्षण सामग्री का निर्माण।

**शिक्षण सामग्री निर्माण और भाषा विकास :** (i) हिंदीतर राज्यों और जनजाति क्षेत्र के विद्यालयों के लिए हिंदी शिक्षण सामग्री निर्माण, (ii) हिंदीतर राज्यों के लिए हिंदी का व्यतिरेकी व्याकरण एवं द्विभाषी अध्येता कौशलों का निर्माण, (iii) विदेशी भाषा के रूप में हिंदी शिक्षण पाठ्यपुस्तकों का निर्माण, (iv) कंप्यूटर साहित्य हिंदी भाषा शिक्षण सामग्री का निर्माण, (v) दृश्य-श्रव्य माध्यमों से हिंदी शिक्षण संबंधी पाठ्यसामग्री का निर्माण, (vi) हिंदी तथा हिंदीतर भारतीय भाषाओं में द्विभाषी/त्रिभाषी शब्दकोशों का निर्माण।

**संस्थान के प्रकाशन :** हिंदी भाषा एवं साहित्य, भाषाविज्ञान, अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, तुलनात्मक एवं व्यतिरेकी, अध्ययन, भाषा एवं साहित्य शिक्षण, कोश विज्ञान आदि से संबद्ध विभिन्न विषयों पर उपयोगी पुस्तकों का प्रकाशन। अब तक 150 से अधिक पुस्तकें प्रकाशित। विभिन्न स्तरों एवं अनेक प्रयोजनों की पाठ्यपुस्तकों, सहायक सामग्री तथा अध्यापक निर्देशिकाओं का प्रकाशन। त्रैमासिक पत्रिका-‘गवेषणा’, ‘मीडिया’ और ‘समन्वय पूर्वोत्तर’ का प्रकाशन।

**पुस्तकालय :** भाषाविज्ञान, अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, भाषा शिक्षण और हिंदी साहित्य के विभिन्न विषयों की पुस्तकों के विशेषीकृत संग्रह की दृष्टि से हिंदी के सर्वश्रेष्ठ पुस्तकालयों में से एक। लगभग एक लाख पुस्तकें। लगभग 75 पत्र-पत्रिकाएँ (शोधपरक एवं अन्य)।

**संस्थान से संबद्ध प्रशिक्षण महाविद्यालय :** हिंदी शिक्षण-प्रशिक्षण के स्तर को समुन्नत करने तथा पाठ्यक्रम में एकरूपता लाने के उद्देश्य से उत्तर ग्वाहाटी (असम), आइजोल (मिजोरम), मैसूर (कर्नाटक), दीमापुर (नागालैंड) के राजकीय हिंदी शिक्षण-प्रशिक्षण महाविद्यालयों को संस्थान से संबद्ध किया गया है।

**योजनाएँ :** भारतीय सांस्कृतिक केंद्र, कोलंबो में सिंहली विद्यार्थियों के लिए केंद्रीय हिंदी संस्थान के पाठ्यक्रम की 2007-08 से शुरुआत अफगानिस्तान के नान्गरहर विश्वविद्यालय (जलालाबाद) में संस्थान द्वारा निर्मित बी. ए. का पाठ्यक्रम 2007-08 से प्रारंभ विश्व के कई अन्य देशों (चेक, स्लोवानिया, यू.एस.ए. यू.के., मॉरिशस, बेल्जियम, रूस आदि) के साथ शैक्षणिक सहयोग और हिंदी पाठ्यक्रम संचालन के संबंध में संवाद जारी हिंदी के बहुआयामी संवर्धन के लिए हिंदी कॉर्पोरा परियोजना, हिंदी लोक शब्दकोश परियोजना, भाषा-साहित्य सीडी निर्माण परियोजना, पर्वोत्तर लोक साहित्य परियोजना तथा लघु हिंदी विश्वकोश परियोजना पर कार्य।

**-डॉ. कमल किशोर गोयनका**  
उपाध्यक्ष, के. हि. शि. म.  
ई-मेल : kkgoyanka@gmail.com

**-प्रो. नन्द किशोर पाण्डेय**  
निदेशक  
ई-मेल : nkpandey65@gmail.com  
directorofkhs@yahoo.co.in

इस पार तक ...

## पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु'



“सत्य यह है कि आलोचक की श्रेष्ठता और महत्ता बुनियादी तौर पर उसके आलोचक होने पर ही निर्भर है। उसका महत्त्व आलोचना के लिए ब्राण्ड या प्रणाली पर कभी आधारित नहीं होता। जैसे दृष्टि नेत्र में होती है, बाहरी प्रकाश या चरमे में नहीं और दृष्टिहीन को हजारों 'वाट' का बल्ब या बड़े-से-बड़े पावर का चरमा कभी दृष्टि नहीं दे सकता, वैसे ही मूलभूत आलोचकत्व के अभाव में कोई प्रणाली या विचारधारा कभी किसी में आलोचकत्व का संचार नहीं कर सकती। शुक्ल जी, द्विवेदी जी, वाजपेयी जी, रामविलास जी और नामवर जी में यह बुनियादी आलोचकत्व विद्यमान है। इसीलिए वे सब हिन्दी साहित्य के श्रेष्ठ और महत्त्वपूर्ण आलोचक हैं।”

-विसंरचनात्मक आलोचना अर्थ की सर्जना से(2012)

RNI No. WBHIN/2014/70173

POSTAL REG. NO. WB/HWH-90/2018-2020

## स्मृति-शेष



नामवर सिंह

28 जुलाई 1926 - 19 फरवरी 2019

हावड़ा विद्यार्थी मंच के लिए प्रकाशक आनंद कुमार सिन्हा और मुद्रक गोपी कृष्ण पालुई, शिक्षण, 50 सीताराम घोष स्ट्रीट, कोलकाता से मुद्रित एवं 6/2/1 आशुतोष मुखर्जी लेन, सालकेया, हावड़ा-711106 से प्रकाशित।

संपादक : डॉ. मीरा सिन्हा